कृष्णाङ्घ्रिपाथोजमधुव्रतस्य सदागमाभ्यासपरायणस्य ।
धृतावतारस्य नु कालिदासकवे रमेशस्य कृपाश्रयेण ॥

महाकविश्रीमत्पण्डितरामावतारमिश्रेण विरचितम्

श्रीदेवीचरितम्

महाकाव्यम्

सम्पादक एवं टीकाकार
डॉ॰ शिवशङ्कर पण्डित

रुक्मिणी प्रकाशन
इन्द्रपुरी, राँची–८३४००६
(बिहार)

कृष्णाङ्घ्रिपाथोजमधुव्रतस्य सदागमाभ्यासपरायणस्य ।
घृतावतारस्य नु कालिदासकवे रमेशस्य कृपाश्रयेण ॥

महाकविश्रीमत्पण्डितरामावतारमिश्रेण विरचितम्

श्रीदेवीचरितं महाकाव्यम्

सम्पादक एवं टीकाकार

डॉ० शिवशङ्कर पण्डित,

एम० ए०, बी० एल०, पी-एच० डी०

प्राध्यापक, अंग्रेजी विभाग,
सेण्ट जेवियर्स कालेज, राँची (बिहार)

रुक्मिणी प्रकाशन

इन्द्रपुरी, राँची—८३४००५
(बिहार)

• प्रकाशक :
रुक्मिणी प्रकाशन,
इन्द्रपुरी, राँची-८३४००५
(बिहार)

© सर्वाधिकार : प्रकाशकाधीन

• संस्करण : प्रथम, संवत् २०४०

• मूल्य : ३० (तीस) रुपये मात्र

• मुद्रक :
बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस
भेलूपुर, वाराणसी-१०

आमुख

श्रीमत्पण्डित रामावतार मिश्रजी ने **श्रीदेवीचरितं महाकाव्यम्** की रचना १९३९ ई० में ही समाप्त कर ली थी, किन्तु यह ग्रन्थ अब तक प्रकाशित नहीं हो सका था। हम जानते हैं कि अनेक अनुपलब्ध ग्रन्थ विद्वान् कवियों एवं लेखकों के पास अप्रकाशित ही पड़े रह कर नष्ट हो जाते हैं और विश्व इनके लाभ से वञ्चित रह जाता है।

श्रीमिश्रजी से मेरा सम्पर्क लगभग बीस वर्षों से है। ये मेरी स्वर्गीया पत्नी श्रीमती सावित्री मिश्र, एम० ए० (संस्कृत), संस्कृत साहित्याचार्य के गुरु भी थे, किन्तु गतवर्ष के पूर्व इन्होंने अपनी रचनाओं के सम्बन्ध में कभी कोई चर्चा न की थी। यह पूछने पर कि क्या आपने कुछ लिखा भी है, सरल हृदय महाकवि ने कहा—'हाँ, कुछ तो लिखा है' और सामने बैठी हुई अपनी धर्मपत्नी श्रीमती देवमती देवी से कपड़े में बांधा हुआ एक गट्ठर लाने को कहा। लाल रंग के इकरंगे कपड़े में बाँधा हुआ गट्ठर ला दिया गया। उसे मेरे सामने रख कर इन्होंने कहा—'आज तक की मेरी कमाई यही है; मैं यह आपको दे रहा हूँ।'

गट्ठर खोल कर मैंने देखा तो इसमें **श्रीगुरुवंश वर्णनम्, श्रीदेवीचरितम् महाकाव्यम्, रुक्मिणी-परिणयः, शिवविवाहः. मानिनी राधिका, गणेश-जन्म, रुक्मिणी मंगलम्, रसचन्द्रिका,** व्यञ्जनोद्धारः इत्यादि बीसों सुरभारती ग्रन्थ एवं हिन्दी में कई रचनाएँ—**समुद्र-मन्थन महाकाव्य, मनुसंहिता द्वितीय अध्याय का दोहानुवाद,** कई स्फुट कविताएँ, नाटकादि पड़े थे। मैं विस्फारित नेत्रों से उन्हें देख रहा था। विश्वास ही नहीं हो रहा था कि इतने शान्तचित्त मिश्रजी के हृदय-सागर से अनेक कल्पनातीत बहुमूल्य रत्न निकल सकते हैं।

सचमुच महाकवि ने अपना सारा जीवन सरस्वती की सेवा में लगाया है और इस गट्ठर में इनकी अमूल्य निधि है। इनकी प्रत्येक रचना अपने आप में बेजोड़ एवं अद्वितीय है। हैदराबाद के सालारजंग म्यूजियम को देख कर मैं आश्चर्यचकित था कि इतनी सारी चीजें और एक ही व्यक्ति का संग्रह! महाकवि मिश्रजी की रचनाओं को देख कर सोचने लगा कि एक व्यक्ति की इतनी रचनाएँ! यह तो सरस्वती के किसी वरद पुत्र का ही काम हो सकता है।

यहाँ पर यह कह देना असंगत न होगा कि मिश्रजी ने प्रसन्नतापूर्वक एवं बेहिचक मुझे यह गट्ठर सौंप दिया। जब मैंने इनकी ओर देखा तो इनके मुखमण्डल पर अपार सन्तोष की झलक थी और जान पड़ता था कि इनके सिर का

बहुत ही बड़ा बोझ उतर गया है। सामने बैठी हुई इनकी धर्मपत्नी भी विहँस रही थीं। सहृदय पाठक तो यह समझ ही गये होंगे कि महाकवि की मुझ पर महती कृपा तथा अथोर स्नेह है, अन्यथा ये पाण्डुलिपियाँ मुझे कदापि नहीं सुपुर्द की जातीं।

मिश्रजीके सिर का भार तो उतर गया, किन्तु मैं इस बोझ से दबने लगा। उस समय से दिन-रात मैं इन ग्रन्थों के प्रकाशन के लिए प्रयत्नशील हूँ। खैर, इनमें से श्रीदेवीचरितं महाकाव्यम् आपके सामने प्रस्तुत है।

राम, कृष्ण, शिव आदि पर महाकाव्य पाये जाते हैं, किन्तु आदिशक्ति पर महाकाव्य नहीं पाया जाता। १९३५ ई० की चैत्र शुक्ल नवमी की संन्ध्या में मिश्रजी माँ के दर्शन के लिए गया नगरस्थ वागीश्वरी मन्दिर जा रहे थे। प्रेरणा मिली। कवि-हृदय जाग गया और प्रबल प्रेरणा-स्रोत फूट पड़ा। रास्ते में ही महाकाव्य का बीज-वपन हो गया। और मङ्गलाचरण तैयार हो गया। घर लौटने पर पाँच-छः श्लोक और भी बन गये। तब से यह सिलसिला चलता रहा। फलस्वरूप १९३९ ई० तक उन्नीस सर्गों का यह महाकाव्य लिखा गया।

शाकद्वीपीय ब्राह्मण कुलोद्भव श्री पं० रामावतार मिश्रजी बिहार राज्य के गया मण्डलान्तर्गत टेकरी निकटस्थ बेनीपुर ग्राम के निवासी हैं, किन्तु इनका जन्म विक्रम संवत् १९५५ पौष कृष्ण नवमी शुक्रवार को इनके ननिहाल, ग्राम मखपा में हुआ था जो इनके घर से एक मील की दूरी पर स्थित है। इनका बचपन विशेष रूप से मखपा में ही इनके नाना श्री पं० भगवानी मिश्र की देख-रेख में बीता। इनके पिता श्री पं० वंशीधर मिश्रजी इनकी उन्नीस वर्षीया माता तथा दो वर्ष दो माह का इन्हें छोड़ प्लेग की चपेट में पड़ कर स्वर्गीय हो गये।

शनैः-शनैः बारह वर्षों का बाल्यकाल बिताने के बाद ये गया पहुँचे और वहाँ पुरानी गोदाम के लब्धप्रतिष्ठ कान्यकुब्ज ब्राह्मण श्री पं० ज्वालाप्रसाद द्विवेदी जी के संरक्षण में रहने लगे। यहाँ श्री पं० देवताचरण मिश्रजी से शिक्षा ग्रहण कर १९१४ ई० में इन्होंने व्याकरण की प्रथमा परीक्षा पास की। बाद में उन्हीं के पौत्र श्री पं० रमाप्रसाद मिश्रजी 'रमेश' के शरणापन्न हुए और १९२३ ई० में इन्होंने साहित्योपाध्याय (जो आज के 'आचार्य' के समकक्ष था) की परीक्षा पास की।

महाकवि मिश्रजी ने अपने गुरु के सम्बन्ध में लिखा है कि वे कोई साधारण व्यक्ति नहीं, अपितु सरस्वती के सद्यः अवतार थे। इन्होंने यह भी कहा है कि वे सभी शास्त्र, सभी विषय, सभी कलाओं के कोविद तथा रूप, गुण, शील, आचार-विचार, लोकप्रियता आदि में लोकोत्तर थे। जिन गुणों को महाकवि

ने अपने गुरु में पाया है, वे सारे गुण इनमें भी मौजूद हैं। इनके निकट सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति यह जानते हैं।

साहित्योपाध्याय की परीक्षा पास करने के बाद मिश्रजी व्याकरण, आयुर्वेद ज्योतिष आदि का अध्ययन करने लगे। शीघ्र ही इन्हें गुरु का आशीर्वाद प्राप्त हो गया। मिश्रजी का अटूट विश्वास है कि इन्होंने जीवन में जो कुछ भी पाया है अथवा किया है, वह अपने परम पूज्य गुरुदेव की कृपा से। उदाहरण-स्वरूप एक घटना की चर्चा कर रहा हूँ। ग्रन्थ के मुखपृष्ठ पर जो श्लोक अंकित है, उसे परिपाटी के अनुसार दूसरे पृष्ठ पर समर्पण अथवा कृतज्ञताज्ञापन के स्थान पर होना चाहिए था, किन्तु मिश्रजी ने स्पष्ट कहा कि यह श्लोक इनके गुरु की इन पर असीम कृपा के सम्बन्ध में हैं; इसलिए इसे इनके नाम के ऊपर होना नितान्त आवश्यक है। मैं कुछ कहना ही चाह रहा था कि इन्होंने बीच में ही मुझे रोक कर कहा—'यदि ऐसा सम्भव नहीं है, तो यह महाकाव्य प्रकाशित न होगा।' अन्त में मुझे वैसा ही करना पड़ा, जैसा महाकवि चाहते थे। यह है मिश्रजी की इनके गुरु के प्रति असीम भक्ति। इसी भक्ति का फल महाकवि ने पाया है। गुरु की कृपा के बिना कोई भी व्यक्ति अपना जीवन कैसे सफल बना सकता है?

१९२८ ई० से मिश्रजी गया नगरस्थ प्रसिद्ध कान्यकुब्ज पाठशाला में अध्यापन कार्य करने लगे। कई साहित्य-समितियों एवं गोष्ठियों के सचिव तथा **रसिक विनोदिनी** नामक पत्रिका के सम्पादक के रूप में इन्होंने अत्यन्त ही सराहनीय कार्य किया है। आज भी ये गया के गुरुकुल महाविद्यालय में अवैतनिक प्राचार्य पद पर आसीन हैं।

संस्कृत में कविता लिखने का कार्य श्री मिश्र जी ने १९१४ ई० में ही प्रारम्भ किया था। उस समय ये मात्र सोलह वर्ष के ही थे और साहित्य प्रथमा की परीक्षा दे रहे थे। तब से आज तक ये लगातार लिखते रहे हैं। इनकी रचनाएँ इनके लगन, परिश्रम एवं अभूतपूर्व प्रतिभा के प्रतिफल हैं।

मिश्रजी की विशेषता यह है कि ये संस्कृत और हिन्दी दोनों में समान दक्षता रखते हैं। **रसिक-विनोदिनी** के पाठकों को यह भली-भाँति ज्ञात है। संस्कृत की रचनाओं में तो अपना नाम देने की परिपाटी है नहीं, किन्तु हिन्दी में है। हिन्दी की कविताओं में इन्होंने अपना उपनाम 'राम' रखा है।

भारतीय एवं पाश्चात्य, दोनों मतों के अनुसार **श्रीदेवीचरितं महाकाव्यम्** उन्नीस सर्गों का उत्कृष्ट एवं अद्वितीय महाकाव्य है। यह कालिदास के **रघुवंशम्**

बहुत ही बड़ा बोझ उतर गया है। सामने बैठी हुई इनकी धर्मपत्नी भी विहँस रही थीं। सहृदय पाठक तो यह समझ ही गये होंगे कि महाकवि की मुझ पर महती कृपा तथा अथोर स्नेह है, अन्यथा ये पाण्डुलिपियाँ मुझे कदापि नहीं सुपुर्द की जातीं।

मिश्रजीके सिर का भार तो उतर गया, किन्तु मैं इस बोझ से दबने लगा। उस समय से दिन-रात मैं इन ग्रन्थों के प्रकाशन के लिए प्रयत्नशील हूँ। खैर, इनमें से श्रीदेवीचरितं महाकाव्यम् आपके सामने प्रस्तुत है।

राम, कृष्ण, शिव आदि पर महाकाव्य पाये जाते हैं, किन्तु आदिशक्ति पर महाकाव्य नहीं पाया जाता। १९३५ ई० की चैत्र शुक्ल नवमी की संन्ध्या में मिश्रजी माँ के दर्शन के लिए गया नगरस्थ वागीश्वरी मन्दिर जा रहे थे। प्रेरणा मिली। कवि-हृदय जाग गया और प्रबल प्रेरणा-स्रोत फूट पड़ा। रास्ते में ही महाकाव्य का बीज-वपन हो गया। और मङ्गलाचरण तैयार हो गया। घर लौटने पर पाँच-छः श्लोक और भी बन गये। तब से यह सिलसिला चलता रहा। फलस्वरूप १९३९ ई० तक उन्नीस सर्गों का यह महाकाव्य लिखा गया।

शाकद्वीपीय ब्राह्मण कुलोद्भव श्री पं० रामावतार मिश्रजी बिहार राज्य के गया मण्डलान्तर्गत टेकरी निकटस्थ बेनीपुर ग्राम के निवासी हैं, किन्तु इनका जन्म विक्रम संवत् १९५५ पौष कृष्ण नवमी शुक्रवार को इनके ननिहाल, ग्राम मखपा में हुआ था जो इनके घर से एक मील की दूरी पर स्थित है। इनका बचपन विशेष रूप से मखपा में ही इनके नाना श्री पं० भगवानी मिश्र की देख-रेख में बीता। इनके पिता श्री पं० वंशीधर मिश्रजी इनकी उन्नीस वर्षीया माता तथा दो वर्ष दो माह का इन्हें छोड़ प्लेग की चपेट में पड़ कर स्वर्गीय हो गये।

शनैः-शनैः बारह वर्षों का बाल्यकाल बिताने के बाद ये गया पहुँचे और वहाँ पुरानी गोदाम के लब्धप्रतिष्ठ कान्यकुब्ज ब्राह्मण श्री पं० ज्वालाप्रसाद द्विवेदी जी के संरक्षण में रहने लगे। यहाँ श्री पं० देवताचरण मिश्रजी से शिक्षा ग्रहण कर १९१४ ई० में इन्होंने व्याकरण की प्रथमा परीक्षा पास की। बाद में उन्हीं के पौत्र श्री पं० रमाप्रसाद मिश्रजी 'रमेश' के शरणापन्न हुए और १९२३ ई० में इन्होंने साहित्योपाध्याय (जो आज के 'आचार्य' के समकक्ष था) की परीक्षा पास की।

महाकवि मिश्रजी ने अपने गुरु के सम्बन्ध में लिखा है कि वे कोई साधारण व्यक्ति नहीं, अपितु सरस्वती के सद्यः अवतार थे। इन्होंने यह भी कहा है कि वे सभी शास्त्र, सभी विषय, सभी कलाओं के कोविद तथा रूप, गुण, शील, आचार-विचार, लोकप्रियता आदि में लोकोत्तर थे। जिन गुणों को महाकवि

ने अपने गुरु में पाया है, वे सारे गुण इनमें भी मौजूद हैं। इनके निकट सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति यह जानते हैं।

साहित्योपाध्याय की परीक्षा पास करने के बाद मिश्रजी व्याकरण, आयुर्वेद ज्योतिष आदि का अध्ययन करने लगे। शीघ्र ही इन्हें गुरु का आशीर्वाद प्राप्त हो गया। मिश्रजी का अटूट विश्वास है कि इन्होंने जीवन में जो कुछ भी पाया है अथवा किया है, वह अपने परम पूज्य गुरुदेव की कृपा से। उदाहरण-स्वरूप एक घटना की चर्चा कर रहा हूँ। ग्रन्थ के मुखपृष्ठ पर जो श्लोक अंकित है, उसे परिपाटी के अनुसार दूसरे पृष्ठ पर समर्पण अथवा कृतज्ञताज्ञापन के स्थान पर होना चाहिए था, किन्तु मिश्रजी ने स्पष्ट कहा कि यह श्लोक इनके गुरु की इन पर असीम कृपा के सम्बन्ध में है; इसलिए इसे इनके नाम के ऊपर होना नितान्त आवश्यक है। मैं कुछ कहना ही चाह रहा था कि इन्होंने बीच में ही मुझे रोक कर कहा—'यदि ऐसा सम्भव नहीं है, तो यह महाकाव्य प्रकाशित न होगा।' अन्त में मुझे वैसा ही करना पड़ा, जैसा महाकवि चाहते थे। यह है मिश्रजी की इनके गुरु के प्रति असीम भक्ति। इसी भक्ति का फल महाकवि ने पाया है। गुरु की कृपा के बिना कोई भी व्यक्ति अपना जीवन कैसे सफल बना सकता है?

१९२८ ई० से मिश्रजी गया नगरस्थ प्रसिद्ध कान्यकुब्ज पाठशाला में अध्यापन कार्य करने लगे। कई साहित्य-समितियों एवं गोष्ठियों के सचिव तथा **रसिक विनोदिनी** नामक पत्रिका के सम्पादक के रूप में इन्होंने अत्यन्त ही सराहनीय कार्य किया है। आज भी ये गया के गुरुकुल महाविद्यालय में अवैतनिक प्राचार्य पद पर आसीन हैं।

संस्कृत में कविता लिखने का कार्य श्री मिश्रजी ने १९१४ ई० में ही प्रारम्भ किया था। उस समय ये मात्र सोलह वर्ष के ही थे और साहित्य प्रथमा की परीक्षा दे रहे थे। तब से आज तक ये लगातार लिखते रहे हैं। इनकी रचनाएँ इनके लगन, परिश्रम एवं अभूतपूर्व प्रतिभा के प्रतिफल हैं।

मिश्रजी की विशेषता यह है कि ये संस्कृत और हिन्दी दोनों में समान दक्षता रखते हैं। **रसिक-विनोदिनी** के पाठकों को यह भली-भाँति ज्ञात है। संस्कृत की रचनाओं में तो अपना नाम देने की परिपाटी है नहीं, किन्तु हिन्दी में है। हिन्दी की कविताओं में इन्होंने अपना उपनाम 'राम' रखा है।

भारतीय एवं पाश्चात्य, दोनों मतों के अनुसार **श्रीदेवीचरितं महाकाव्यम्** उन्नीस सर्गों का उत्कृष्ट एवं अद्वितीय महाकाव्य है। यह कालिदास के **रघुवंशम्**

या **कुमारसम्भवम्**, माघ विरचित **शिशुपालवधम्** अथवा श्रीहर्षकृत **नैषधीयचरितम्** के क्रम में रखा जा सकता है। दण्डी के **काव्यादर्श** (१।१४-१९) में अंकित महाकाव्य के सारे लक्षण **श्रीदेवीचरितम्** में पाये जाते हैं। यह एक कलापूर्ण महाकाव्य (Epic of Art) है। लगभग आठ सौ वर्षों के बाद सही अर्थों में संस्कृत में महाकाव्य लिखा गया है जिसे हम संस्कृत-साहित्य के इतिहास में समाविष्ट कर सकते हैं। वस्तुतः श्रीहर्ष के **नैषधीयचरितम्** (बारहवीं शताब्दी) के बाद लिखे गये संस्कृत महाकाव्यों में पं० रामावतार मिश्रजी विरचित **श्रीदेवीचरितम्** बेजोड़ है।

श्रीदेवीचरितम् की प्रधान नायिका आदिशक्ति हैं। इन्होंने देवों, ऋषियों, मुनियों, तथा मानवों की रक्षा के लिए दुष्ट दानवों का विनाश किया है। मङ्गल-कारिणी देवी सदा संसार की रक्षा करती आई हैं और भविष्य में भी करती रहेंगी। देवीजी ने अपने भक्तों को ऐसा आश्वासन भी दिया है—

क्षयंगता दैत्यगणाः सगर्वा मुदङ्गताः सन्तु भवन्त आशु।
भयङ्गता जातुचिदन्यतः स्युः सुसङ्गता माञ्च तदा स्मरन्तु॥ (७/५२)

इस महाकाव्य के प्रथम सर्ग में सृष्टि की प्रारम्भिक अवस्था का वर्णन है। सर्वप्रथम मोह-निद्रा की गोद में सोये हुए भगवान् विष्णु की नाभि से कमल और कमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति होती है। शीघ्र ही विष्णु के कान के मैल से मधु और कैटभ नामक दो दैत्य भी पैदा हो जाते हैं। वे लोग ब्रह्मा को खा जाना चाहते हैं। ब्रह्मा डर कर योग-निद्रा की स्तुति करते हैं। दूसरे सर्ग में भक्तवत्सल भगवान् विष्णु जाग जाते हैं और अपने भक्त की रक्षा के लिए देवीजी अपने ही पुत्र मधु और कैटभ का उनसे वध करवाती हैं। बाद के चार सर्गों में महिषासुर नामक क्रूर दैत्य की उत्पत्ति, उसके द्वारा किये गये विभिन्न प्रकार का अत्याचार, स्वर्गलोग पर उसका आक्रमण एवं विजय, इन्द्रलोक की अप्सराओं का नाच-गान (सर्ग ३), देवताओं की स्तुति, महिषमर्दिनी का प्रादुर्भाव (सर्ग ४), उनका गर्जन, महिषासुर का देवीजी पर क्रोध, उनसे युद्ध करने के लिए उसकी सेना की चढ़ाई एवं पराजय (सर्ग ५), स्वयं महिषासुर का देवी पर आक्रमण और अन्त में उसके विनाश (सर्ग ६) का वर्णन है। बीच-बीच में भयंकर युद्ध, युद्ध-सम्बन्धी मन्त्रणा, जीवन के सुख-दुःख, प्रकृति-चित्रण, अप्सराओं के चरित्र आदि की साङ्गोपांग चर्चा है। सातवें सर्ग में ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र, वरुण, कुवेर आदि विभिन्न देवों द्वारा चण्डिका देवी की अलग-अलग छन्दों में स्तुति है। अप्सराएँ तो सदा गीत में ही बोलती हैं। अतः उन लोगों ने गीत गा कर ही माँ की स्तुति की है। अन्त में देवीजी प्रसन्न हो कर सब को वरदान देती

हैं और शीघ्र ही अन्तर्हित हो जाती हैं। ऐसी दयालु माँ को छोड़ कर मूढ़ व्यक्ति ही दूसरे का आश्रय लेता है। महाकवि ने कहा है—

इत्थं दयालुमपहाय जगन्नियन्त्रीं कोन्यां श्रयेत कुमतिर्जननीं विमूढः।
दत्ते पिता सुतजनाय विविच्य किञ्चिन्माता न चिन्तयति पात्रमपात्रकं वा॥
(७।५४)

बाद के छह सर्गों में शुम्भ और निशुम्भ नामक दो महान् अहंकारी दैत्यों के उत्पात तथा उनके विनाश की कथा है। आठवें सर्ग में इन दैत्यों द्वारा किये गए अन्याय एवं अत्याचार से तंग आ कर देवताओं ने हिमालय पर्वत पर जा कर देवीजी की स्तुति की है। फलस्वरूप तेजोमयी देवी ने प्रकट हो कर शुम्भ और निशुम्भ के वध की प्रतिज्ञा की। इस सर्ग में हिमालय पर्वत एवं सुरसरी (गङ्गा) का सजीव वर्णन है। आगे शुम्भ-निशुम्भ के गुप्तचरों द्वारा देवीजी के सौन्दर्य का वर्णन, चण्डमुण्डादि सेनानायकों द्वारा देवीजी पर आक्रमण तथा उन दैत्यों का विनाश (सर्ग ९), रक्तबीज का देवी पर आक्रमण एवं चण्डिका द्वारा उसका वध (सर्ग १०), शुम्भ की चिन्ता, भाई-भाई के प्रेम, निशुम्भ द्वारा आक्रमण तथा उसके विनाश (सर्ग ११), प्रजा की बहुत बड़ी गोष्ठी में राजा और प्रजा का एक दूसरे के प्रति अधिकार एवं कर्त्तव्य की चर्चा, भाई की मृत्यु पर शुम्भ का विलाप, प्रजा को प्रोत्साहित कर सब के साथ शुम्भ का रण के लिए प्रस्थान (सर्ग १२), शुम्भ और देवीजी के बीच भयंकर युद्ध तथा शुम्भ के वध (सर्ग १३) आदि का विशद् वर्णन है।

चौदहवें सर्ग में शुम्भ और निशुम्भ नाम के ही दो दूसरे दैत्यों के अत्याचार विन्ध्याचल पर्वत के सौन्दर्य, तथा देवी द्वारा इन दैत्यों के विनाश की कथा है। पन्द्रहवें सर्ग में विप्रचित्ति नामक दैत्य के अत्याचार एवं उसके विनाश, सोलहवें सर्ग में दुर्ग दैत्य का प्रजाओं पर अत्याचार, भयंकर अकाल, शाकम्भरी देवी का प्रादुर्भाव एवं दुर्ग के विनाश, सत्रहवें सर्ग में एक दूसरे दैत्य द्वारा किये गए उत्पात एवं भीमा देवी द्वारा उसके विनाश तथा अट्ठारहवें सर्ग में अरुण दैत्य का जन्म, बाल्यकाल से ही उसके क्रूर एवं अत्याचारी होने, विभिन्न देहाती खेलों, कसरतों, कवायदों एवं भ्रामरी देवी द्वारा उसके सवंश विनाश की बड़ी ही रोचक कथा है।

इतनी बड़ी विजय के बाद चारों ओर शान्ति छा जाती है। सभी सुखमय जीवन व्यतीत करने लगते हैं। इसीलिए उन्नीसवें सर्ग में महाकवि ने छह ऋतुओं का जीता-जागता चित्र प्रस्तुत किया है। सम्पूर्ण सर्ग शृंगार के रस में सराबोर है। महाकवि ने यहाँ पर सूर्य को भी कामाकुल बना दिया है—

यत्सैन्यनायकभिया परिवर्तिताश्वस्तत्केतुमेव गतवान् मकरं विवस्वान् ।
कामध्वजेन चिरमाप्तसमागमोपि कुम्भग्रहं स विदधातु कथं न तूर्णम् ॥
(१९।५३)

धन्य हैं महाकवि !

महाकवि रामावतार मिश्रजी की कविता सुरभारती का शृङ्गार है। समस्त महाकाव्य सरसता, प्रसाद गुण, अर्थ-सौष्ठव एवं अलङ्कारों के मञ्जुल प्रयोग से भरा है। श्री मिश्रजी का अनुभव बड़ा व्यापक है। साथ ही इनमें जीवन की सच्ची परिस्थितियों के मार्मिक रूप को ग्रहण करने की क्षमता है। शायद इसी कारण इन्होंने इस महाकाव्य में सज्जनता, दुर्जनता, अत्याचार, सहनशीलता, भाई-भाई का प्रेम, राजा-प्रजा का सम्बन्ध, शत्रु-स्वभाव, युद्ध की मन्त्रणा, घोर युद्ध, कुश्ती, व्यायाम, विभिन्न प्रकार के देहाती खेल, मानव-स्वभाव, प्रकृति, राजनीति, कूटनीति, त्याग, तपस्या, योग, नृत्य, गीत आदि का जीता-जागता चित्र उपस्थित किया है। **श्रीदेवीचरितम्** के अध्ययन मात्र से ही स्पष्ट हो जाता है कि मिश्रजी पर देवी की अपार कृपा रही है, नहीं तो देवी के चरित्र के सम्बन्ध में कुछ भी लिखना साधारण व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं था। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी इनके सम्बन्ध में 'नेति-नेति' कह कर चुप रह गये हैं।

मिश्रजी की कविता का प्रधान गुण है वर्ण्य-विषय तथा वर्णन-प्रकार में मञ्जुल सामंजस्य। हम निम्नलिखित दो श्लोकों पर विचार करें—

महेशत्वं यातो यदहमिति चित्तं न किमिदं
यदीशे सम्भाव्यं किमिति गिरिवासेस्ति शकलम् ।
यथा वा नग्नत्वे मृतकनरमुण्डस्रजि पुनः
श्मसानावासे वा करघृतकपाले त्रिनयने ॥ (७।३१)

गानतानतरलान्तरा न पलमपि तिष्ठन्ति ।
प्रेतावेशयुता इवेह परितो विचरन्ति ॥
अस्मदीयकृपया विना वृथा स्वं मन्यते ।
ईषत्कृपाकटाक्षजीविता मुदं लभन्ते ॥ (७।४७)

प्रथम श्लोक के द्वारा शिव ने देवी की स्तुति सरस भापा में की है, किन्तु दूसरे श्लोक में सरसता की अपेक्षा गेयता अधिक है, चूँकि यह स्तुति अप्सराओं के द्वारा की गई है।

महाकवि को यह ज्ञात है कि किस प्रकार गागर में सागर भरा जा सकता है। ये चुने हुए थोड़े शब्दों में ही अपरिमित भावों को व्यक्त कर देते हैं। मर्मस्पर्शी शब्दों के चयन में तो ये प्रवीण हैं। महाकवि में अपूर्व भावुकता है।

शायद इसी कारण यदि इन्हें भक्ति एवं शृङ्गार अवतार कहा जाय तो तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं होगी। दरअसल, इनकी सर्वांगीण एवं व्यापक प्रतिभा वर्णनातीत है। सहृदय पाठक इस महाकाव्य को पढ़ कर स्वयं इसका अनुभव करेंगे।

श्रीदेवीचरितम् महाकाव्यम् पर कुछ भी लिखना सूर्य को दीपक दिखाना है। गुलाब की सुगन्धि का वास्तविक ज्ञान किसी दूसरे से इसका वर्णन सुन कर नहीं हो सकता। उसी प्रकार काव्यग्रन्थ का रसास्वादन किसी दूसरे से उसके बारे में जान कर नहीं हो सकता। इसके लिए पाठक को स्वयं उसकी गहराई में गोते लगाना नितान्त आवश्यक है। यही सोच कर मैं इस पर कुछ भी लिखने के पक्ष में नहीं था, किन्तु खटांगी (गया)-निवासी देव-ब्राह्मण-भक्त संस्कृत-प्रेमी श्रीमान् उमेश्वर देव प्रसाद नारायण सिंह, एम० ए०, बी० एल०, एडवोकेट ने इसके लिए विशेष आग्रह किया जो मैं नहीं टाल सकता था। फलतः इस पर कुछ लिखना ही पड़ा है। इस महाकाव्य की हिन्दी टीका करने की भी धृष्टता मैंने यही समझ कर की है कि मात्र संस्कृत-प्रेमी ही नहीं, अपितु हिन्दी-प्रेमी पाठक भी इससे लाभान्वित हो सकेंगे।

यह महाकाव्य मेरे मित्रों के सहयोग से ही प्रकाशित हो रहा है। उनमें अन्यतम हैं श्री राजेन्द्र प्रसाद शर्मा, एम० ए०, वाणिज्य-कर उपायुक्त (बिहार सरकार)। कई मित्रों ने मुझे नाम देने से रोका है। सचमुच, इस समाज में ऐसे बहुत लोग हैं जो अनाम रह कर काम करना जानते हैं (Thus let me live unseen, unknown)। मैं इन मित्रों का आभारी हूँ और इनकी मङ्गलकामना करता हूँ।

दोषानपि गुणीकर्तुं दोषीकर्तुं गुणानपि।
शक्तो वादी न तत्तथ्यं दोषा दोषा गुणा गुणाः॥

अन्ततः उन सभी विद्वत् एवं सुधी जनों को यह ग्रन्थ इस निवेदन के साथ अर्पित है कि यदि इसमें कुछ त्रुटियाँ रह गई हों तो सूचित करने की कृपा करेंगे जिससे दूसरे संस्करण में उनका निराकरण हो सके।

शिवशङ्कर पण्डित,
एम. ए., बी. एल., पी-एच. डी.
प्राध्यापक, अंग्रेजी विभाग,
सेण्ट जेवियर्स कॉलेज, राँची (बिहार)

अग्रहायण कृष्ण एकादशी
संवत् २०४०, वाराणसी।

श्रीदेवीचरितं महाकाव्यम्

प्रथमः सर्गः

श्रीशो युगान्ते भुवनं समस्तमस्तं विधाय स्वतनौ नितान्तम् ।
विनिद्रनिद्रार्पितमोहनिद्रः शिश्ये पयोधावधिशेषशय्यम् ॥१॥

युगों के समाप्त होने पर श्रीपति भगवान् ने सोने की इच्छा कर सारे विश्व को अपने एक मात्र शरीर में विलीन कर लिया। तब जागरूक निद्रा देवी ने उन्हें मोहनिद्रा अर्पित की और वह समुद्र के बीच शेष-शय्या पर सो गये ॥१॥

नाभिह्रदादस्य कदाचिदेका सरोजवल्ली स्वयमुद्बभूव ।
समेधमानाऽनुदिनं समुद्रजलोर्ध्वभागे स्थितिमाप साऽथ ॥२॥

तब इनके नाभिरूपी सरोवर से स्वयं ही कमल की लता प्रकट हो कर प्रतिदिन बड़ी तीव्रता से बढ़ती गई और समुद्र के जल के ऊपर आ कर ही उस लता ने विश्राम लिया ॥२॥

गतेष्वनेकेष्वथ वत्सरेषु[1] पुष्यन्मृणाला प्रसरद्दला सा ।
दधार रम्यां कलिकामसौ च विकासयोग्याऽभवदल्पवर्षैः ॥३॥

अनेक वर्ष बीतने पर उसका डंठल पुष्ट हुआ। तब दल निकले और फैलने लगे। इस प्रकार उस वल्ली ने एक सुन्दर कली धारण की जो कुछ ही वर्षों में सुविकसित हो गई ॥३॥

ततः सरोजाद्विकसद्दलात्सञ्जातोऽङ्गवान् कोपि विचित्ररूपः ।
चतुर्भुजो रक्तचतुर्मुखाब्जः कोऽहं कुतो वेति वदन् विविग्नः ॥४॥

जब वह कमल का फूल अर्द्धविकसित हुआ, तो उससे विचित्र रूप का कर-चरणादि अङ्गधारी एक पुरुष प्रकट हुआ। उस पुरुष की चार भुजाएँ एवं लाल रंग के कमल के समान चार मुख थे और उनके मुख से ये शब्द निकल रहे थे—'मैं कौन हूँ और कहाँ आ गया हूँ' ॥४॥

असौ समन्तादवलोक्य तोयं न निश्चयं स्वागमनस्य लेभे ।
तदासनं स्वं जलजं दधत्संविवेश तोयान्तरमप्रमेयम् ॥५॥

वह सभी ओर जल ही जल देख कर अपने आगमन का कुछ भी कारण निश्चय नहीं कर अपने आसन के कमल दण्ड के सहारे जल के भीतर घुसे, किन्तु कहीं भी उसका अन्त उन्होंने नहीं पाया ॥५॥

---

१. हायनेषु ।

तस्यापि नो पारमपारमाप न किञ्चिदन्यच्च ददर्श तत्र ।
नालं विहातुञ्च बभूव नालं निवृत्य तत्स्वासनमाजगाम ॥६॥

जब जल राशि का कहीं अन्त नहीं पाया और उसके भीतर कुल भी नहीं देखा तथा उस कमलदण्ड को छोड़ने में भी समर्थ नहीं हो सके, तब उसी को पकड़े हुए वह फिर अपने आसन पर लौट आये ॥६॥

तत्र स्थितो ध्यानपरायणोऽभूदनिश्चितस्वागमकारणोसौ ।
प्रादुर्बभूवास्य हृदि स्वयं यत्तपश्चर ज्ञानविकाशहेतोः ॥७॥

वहीं पर बैठे-बैठे उन्होंने ध्यान लगाया, क्योंकि अपने आगमन का निदान कहीं से नहीं पा रहे थे । इसके बाद उनके हृदय में स्वयं आभास मिला कि ज्ञान-विकास के लिए तपस्या करो ॥७॥

नियम्य सर्वेन्द्रियसत्प्रचारं निमील्य नेत्रे श्वसनं निरुध्य ।
विलोकयन् किञ्चिददृष्टरूपं पद्मासनेनोपविवेश तूर्णम् ॥८॥

(इसके बाद) शीघ्र ही उद्विग्नता के कारण चञ्चला हो रही सभी इन्द्रियों को रोक कर नेत्रों को बन्द कर, कमलासन लगा कर वह बैठ गये और किसी अदृष्ट रूप को ध्यान में देखने लगे ॥८॥

वर्षाण्यनेकानि गतानि तस्य तपस्यतो ध्यानपरायणस्य ।
तदा स आत्मोद्भवकारणं सद्ब्रह्म प्रपेदे हृदि चिन्तयंस्तत् ॥९॥

ध्यान लगा कर तपस्या करते हुए उनके अनेकों वर्ष बीत गये । तब उन्होंने अपने उद्भव के मूल कारण का हृदय में चिन्तन करते-करते परब्रह्म को पाया ॥९॥

शान्ताकृतिं पद्मदलायताक्षं चतुर्भुजं चक्रगदाब्जशङ्खम् ।
दधानमम्भोदसमानकान्तिं शेषे शयानञ्च ददर्श विष्णुम् ॥१०॥

उन्होंने विष्णु को देखा जिसकी आकृति बिल्कुल शान्त है, कमलदल के समान जिसकी आँखें हैं, जिसकी चार भुजाएँ हैं जिनमें वह शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म धारण किये हुए है, मेघ के समान जिसका नीला रंग है और जो शेष नाग पर सोया हुआ है ॥१०॥

कोऽहं यतः पूर्वमसौ जगाद नाम्ना स कोऽभूदनृतप्रवक्ता ।
विधिश्च सम्यग् जगतो विधानात्स्वयम्भवाच्चापि तदाख्यकोपि ॥११॥

पहले उनके मुख से 'कोहं' शब्द निकला । इसलिए उस सत्यवादी द्वारा उच्चरित प्रथम अक्षर पर उनका नाम 'क' रखा गया । जगत् के निर्माण करने के कारण वह विधि कहलाये और बिना भौतिक तत्त्व के स्वयं प्रकट होने के कारण स्वयंभू कहलाये ॥११॥

हरेः शयानस्य कदाचिदब्धावथ श्रुतिभ्यां मलमुद्बभूव।
तदेव घोराकृतिकौ विशालौ जातौ च दैत्यौ मधुकैटभाख्यौ ॥१२॥

इसके बाद समुद्र में सोये हुए भगवान् विष्णु के दोनों कानों से निकले। मैल ने दो भयंकर आकार वाले विशालकाय दैत्यों का रूप धारण कर लिया। इन दैत्यों का नाम मधु और कैटभ पड़ा ॥१२॥

इतस्ततस्तोयनिधौ तरन्तौ बुभुक्षितौ न स्थितिमापतुस्तौ।
ततस्तपस्यन्तमजं निरीक्ष्य घनं विहस्योपजगर्जतुस्तम् ॥१३॥

उन दोनों दैत्यों को समुद्र के जल में इधर-उधर तैरते हुए भूख के कारण कहीं पर विश्राम न मिला। तब तपस्या करते हुए ब्रह्मा को देख कर दोनों जोर से हँसे और उनके पास पहुँच गये ॥१३॥

तन्नादतो व्यस्तमतिर्विलुप्तधैर्यो विधिर्नैव ददर्श कश्चित्।
निजावितारं तदभून्नितान्तमुद्विग्नचेता भयविह्वलाक्षः ॥१४॥

उन दोनों के घोर गर्जन से ब्रह्माजी की बुद्धि चकरा गई और उनका धैर्य लुप्त हो गया। उन्होंने किसी को भी अपना रक्षक नहीं देखा तो वे व्याकुल-हृदय हो गये और उनकी आँखें उद्विग्नता से चञ्चल हो उठीं ॥१४॥

पुरो ददर्शाथ भयङ्कराङ्गौ प्रलम्बनासोष्ठमुखश्रुती द्वौ।
करालदंष्ट्रावरुणायताक्षौ घनध्वनी सायुधबाहुदण्डौ ॥१५॥

तब ब्रह्माजी ने देखा कि दो भयंकर आकृतिवाले दैत्य खड़े हैं। उनके लम्बे मुख, नाक, ओठ, कान, टेढ़े-टेढ़े विकराल दाँत, लाल आँखें, बादल के गरजने की-सी आवाज तथा उनकी विशाल भुजाओं में हथियार उन्हें भयंकर बना रहे थे ॥१५॥

व्यादाय[1] वक्त्रं विकरालकालमुखोपमं भक्षितुमुद्यतौ माम्।
दैत्यौ शयानञ्च हरिं विलोक्य विधिः शरण्यं न यदाप कञ्चित् ॥१६॥

जब ब्रह्माजी ने देखा कि ये दोनों दैत्य विकराल काल के मुख के समान अपने मुख फैला कर मुझे खाने के लिए तैयार हैं, भगवान् विष्णु भी सोये हुए हैं, और किसी को भी शरण देनेवाला नहीं पाया ॥१६॥

निद्रैव देवी सकलस्य जन्तोराक्रम्य चित्तं कुरुते सुषुप्तिम्।
अनुग्रहं चेन्मयि सा विदध्यादुत्थाय मां रक्षतु शेषशायी ॥१७॥

(तब उन्होंने यह सोचा कि) निद्रा देवी ही सभी जन्तुओं के चित्त को घेर कर सुषुप्ति उत्पन्न करती हैं। वही यदि अनुग्रह करें, तो शेषशायी भगवान् उठकर मेरी रक्षा कर सकते हैं ॥१७॥

---

१. विदार्य।

यदा सुकालो भवतीह जन्तोर्मतिप्रकाशं लभते तदासौ ।
विज्ञाय वेधा भगवत्स्वरक्षां तुष्टाव निद्रां हरिजागरार्थम् ॥१८॥

जब प्राणियों का अच्छा समय आता है, तब वह बुद्धि में प्रकाश पाता है । विधाता ने अपनी रक्षा विष्णु भगवान् के द्वारा जान कर उनको जगाने के लिये निद्रा देवी की स्तुति की ॥१८॥

हव्यं घृताक्तं ज्वलने प्रदत्तं गृह्णन्ति देवास्त्वदनुग्रहेण ।
अतस्त्वमेवासि जगन्नमस्ये ! स्वाहास्वरूपाऽतिदयार्द्रचित्ता ॥१९॥

'हे जगद्वन्दनीय निद्रे ! देवता लोग तुम्हारी ही दया से घी से तर अग्नि में दिये हुए हवनीय पदार्थ को ग्रहण करते हैं । अतः हे दयार्द्रचित्तवाली ! तुम्हीं स्वाहा हो ॥१९॥

पुत्रादिदत्तं मधुसर्पिषाक्तं तिलान्वितं शर्करया सुमिष्टम् ।
हविष्यमादातुमलं हि पित्रादयः स्वधारूपभृता त्वयैव ॥२०॥

'पुत्र-पौत्रादि द्वारा दिये गये मधु, घी, तिल से युक्त तथा शक्कर से अत्यन्त मधुर बनाये हुए हविष्य को पितृगण स्वधारूप धारण करने वाली तुम्हारे द्वारा ही प्राप्त करने में समर्थ होते हैं ॥२०॥

अति श्रमेणापि विधाय यज्ञान् शतं न शक्तो निजभागमाप्तुम् ।
शतक्रतुस्त्वं हि वषट्स्वरूपा शब्दश्च तत्तृप्तिकरः स एव ॥२१॥

अत्यन्त श्रमयुक्त सैंकड़ों यज्ञ करके भी इन्द्र अपने भाग को पाने में समर्थ नहीं होते (यदि उनके नाम के पीछे 'वषट्' शब्द का उच्चारण नहीं हो), इसलिए तुम 'वषट्' शब्द का रूप धारण करती हो और 'वषट्' शब्द ही इन्द्र को तृप्त करने वाला है ॥२१॥

उच्चारणं यामतिहाय न स्यादुच्चारिता यापि च निष्फलैव ।
एवं श्रुतिः सर्वहिता त्वया यन्नित्यानुदात्तादिसुरूपिणी त्वम् ॥२२॥

'जिस उदात्तादि स्वर के बिना वेदमन्त्रों का उच्चारण ही नहीं हो सकता और उच्चारण होने पर भी वे निष्फल हो जाते और (इस प्रकार) सर्वकल्याणकारी श्रुति का कोई उपयोग नहीं रह जाता । इसी कारण तुम अनुदात्तादि स्वर का सुन्दर रूप धारण करती हो ॥२२॥

यस्माद्विना वर्णसमुच्चयोपि नोच्चारणार्हो न च सर्वशास्त्रम् ।
स कश्चिदेवास्ति हि तन्मयत्वाद्ह्रस्वादिरूपासि यतस्त्वमेव ॥२३॥

'जिस स्वर के बिना सारे व्यञ्जनवर्ण उच्चारण के योग्य ही नहीं होते और न उच्चारण होने से शास्त्रों का निर्माण ही नहीं होता, इसी कारण वह अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है । इसलिए ह्रस्वादि स्वर-रूप तुम्हीं धारण करती हो ॥२३॥

यस्याः कृते युद्धमभूत्सुघोरं सुरासुराणां किल सस्पृहाणाम् ।
यत्सेवनाच्चाप्यमरत्वमापुर्देवास्त्वमेवासि सुधास्वरूपा ॥२४॥

'जिस अमृत के लिए परस्पर ताल ठोकने वाले देवों और दानवों में भयंकर संग्राम हुआ, जो प्रसिद्ध है और जिसके सेवन से देवतागण ने अमरत्व की प्राप्ति की, वह सुधा-रूप तुम्हीं हो ॥२४॥

हकारमारभ्य समस्तवर्णाः शक्या हि नोच्चारयितुं कथञ्चित् ।
यतोऽर्धमात्राः समुदीरितास्ते त्वं तत्स्वरूपा भुवनेशि ! नूनम् ॥२५॥

'हकार से लेकर सभी व्यञ्जनवर्ण उच्चारण के योग्य किसी प्रकार से नहीं हो सकते थे, क्योंकि सब आधी मात्रा के हैं । अतः हे भुवनेशि ! तूने अर्द्धमात्रा-रूप धारण कर लिया है ॥२५॥

नित्यं त्रिकालं यदुपासनाया बलेन सिद्धिं लभते समग्रम् ।
द्विजातिमुख्यत्वमपीह विप्रः सन्ध्यास्वरूपा जगदम्बिके ! त्वम् ॥२६॥

'जिस सन्ध्या की नित्य, त्रिकाल उपासना के बल से, ब्राह्मण लोग समस्त सिद्धि, तथा इस लोक में द्विजातियों में प्रधानता, प्राप्त करते हैं, हे जगन्माता ! वह सन्ध्या-स्वरूपा तुम्हीं हो ॥२६॥

द्विजातिवर्गो यदवाप्तियोगाद्द्विजत्वमायाति निजक्रियासु ।
प्रवर्तते सिद्धिमवाप्नुते च वेदस्य माता त्रिपदा त्वमेव ॥२७॥

'ब्राह्मण वर्ग 'ज्ञि' गायत्री वा सावित्री को पाने के बाद ही ब्राह्मणोचित क्रियाओं में प्रवृत्त होते हैं तथा सिद्धि प्राप्त करते हैं । वेद की माता तीन चरणों वाली गायत्रीरूप तुम्हीं हो ॥२७॥

त्वं वेदरूपा जगतोऽखिलस्य त्वया बिना कोपि न दृश्यते वै ।
अजोप्यहं त्वत्कृपयैव जातस्त्वमेव माता परमासि देवि ॥२८॥

'हे देवि ! तुम वेद-स्वरूपा हो । निश्चय ही तुम्हारे बिना कुछ भी नहीं दीख पड़ता । मैं तुम्हारी कृपा से ही स्वयं प्रकट हुआ हूँ । इसलिए तुम समस्त जगत् की आदि माता हो ॥२८॥

विश्वं न चेत्त्वं दधसे स्वशक्त्या तदा क्व तिष्ठेत्तदनाश्रयेऽस्मिन् ।
आप्लावयिष्यत्यचिरेण तोयमाधारभूतासि यतस्त्वमेव ॥२९॥

'हे देवि ! यदि तुम ने अपनी शक्ति से संसार को धारण कर नहीं रखा होता तो निराधार इस जलराशि में वह शीघ्र ही डूब जाता । अतः तुम्हीं इस संसार के आधार-रूप हो ॥२९॥

दिने व्यतीते जगदीश्वरस्य सायं सुषुप्सोर्वपुषि त्वमेव।
कृत्वा विलीनं भुवनं निशान्त उत्थाप्य तं कल्पयसीह विश्वम् ॥३०॥

'जब विश्वेश्वर का एक दिन बीत जाता है और सन्ध्या आ जाती है तथा उन्हें सोने की इच्छा होती है, तब तुम उनके शरीर में सारे विश्व को विलीन करके सुला देती हो और भोर होते ही उन्हें जगा कर संसार का निर्माण करती हो ॥३०॥

अनेकरूपाण्यवलम्ब्य मातर्बिभर्षि लोकं सकलं यदा त्वम्।
तदैव सर्वे परिपालनस्य श्रेयो लभन्ते परिपालकाश्च ॥३१॥

'हे माता ! जब तुम अनेक रूप ले कर समस्त संसार को धारण करती हो, तभी लोकपाल लोग लोक-पालन का श्रेय प्राप्त करते हैं ॥३१॥

स्वकालमानेन यदैव विश्वं विलीयते सागर उत्प्लवेऽस्मिन्।
ग्रस्तं त्वयैव प्रतियन्ति सर्वे यतोसि शक्त्या सकलं विधातुम् ॥३२॥

'अपने-अपने समय के मान से इस उमड़े हुए समुद्र में समस्त विश्व विलीन हो जाता है और इसे तुम्हीं ग्रस्त कर लेती हो। फिर भी वह प्रकट हो जाता है, क्योंकि तुम्हीं अपनी शक्ति से सब कुछ करने में समर्थ हो ॥३२॥

महत्तथाऽहङ्कृतिरस्ति कुत्र कुत्रेन्द्रियाणि क्व च भूतसङ्घः।
रूपादिकं क्वेति न बुध्यते त्वं तदादि संयोज्य करोषि विश्वम् ॥३३॥

'महत् तत्त्व तथा अहंकार कहाँ हैं ? इन्द्रियाँ कहाँ ? प्राणि मात्र कहाँ ? रूपादि कहाँ ? ये सब कुछ नहीं ज्ञात होते हैं। परन्तु सभी को इकट्ठा कर तुम्हीं विश्व का निर्माण करती हो ॥३३॥

यद्वा महत्तत्वमहङ्कृतिश्च दशेन्द्रियाणीह मनश्च पञ्च।
भूतानि तत्तद्विषयाश्च देवि ! त्वत्तो भवन्ति प्रकृतिर्यतस्त्वम् ॥३४॥

'अथवा हे देवि ! महत् तत्त्व, अहंकार, दस इन्द्रियाँ, मन, पंच महाभूत, उनके विषय शब्दादि, तुमसे ही होते हैं, क्योंकि तुम्हीं मूल प्रकृति हो और मूल प्रकृति से ही सभी प्रकृति और विकृति निकलती है ॥३४॥

त्वमेव देवि ! प्रतिपासि विश्वं त्वमेव चान्ते ग्रससीति नूनम्।
यतस्त्वमेवासि जगन्मयी च जगत्समस्तं त्वयि वर्ततेऽपि ॥३५॥

'हे देवि ! तुम्हीं समस्त विश्व का प्रतिपालन करती हो और यह निश्चय है कि तुम्हीं अन्त में उसे ग्रास करती हो; क्योंकि तुम जगत्-रूप हो और तुम में ही सारा जगत् वर्तमान रहता है ॥३५॥

दशाकृतीस्त्वं जगतो हिताय स्वभक्तसर्वेष्टवरार्पणाय ।
बिभर्षि कालीप्रभृतीर्हि देवि ! समस्तविद्यासि यतस्त्वमेव ॥३६॥

'हे देवि ! तुम जगत् के कल्याण के लिए और अपने भक्तों को अभीष्ट वर देने के लिए काली आदि दस रूप धारण करती हो । इसलिए तुम्हीं समस्त विद्या-रूप हो ॥३६॥

ब्रह्मादयो ये सुरवर्यमुख्या नराश्च नार्यः पशुपक्षिणश्च ।
त्वयैव जीवाः सकला विमुग्धा माया स्वरूपासि यतस्त्वमेव ॥३७॥

'ब्रह्मा आदि जो प्रधान देवगण हैं, पुरुष, स्त्री, पशु, पक्षी तथा सभी प्राणी मात्र तुम से ही मोहित रहते हैं; क्योंकि तुम्हीं माया-स्वरूप हो ॥३७॥

जानन्ननित्यं भुवनं समस्तमपत्यवित्तादिषु रक्तचितः ।
बुधोपि मोहं भजते त्वयैव करोति कर्माणि च गर्हितानि ॥३८॥

'विद्वान् लोग यह जानते हुए भी कि सारा जगत् अनित्य (नाशवान्) है, सन्तान, धन आदि के पीछे पागल बन जाते हैं और उनके लिए निन्दित से निन्दित कार्य करते हैं, यह तुम्हारे ही चलते ॥३८॥

करोति कश्चित्सदसद्विवेकमनित्यलोकेऽपि न मोहमेति ।
मुक्तिञ्च याति त्वदनुग्रहेण मेधास्वरूपा जगदम्बिके ! त्वम् ॥३९॥

'हे जगदम्बिके । कोई-कोई आदमी ऐसे भी हैं जो अच्छे-बुरे का ज्ञान रखते हैं । इसलिए वे संसार को अनश्वर समझ कर मोह में पड़ते और तुम्हारी ही कृपा से मुक्ति पाते हैं, क्योंकि तुम 'मेधा' स्वरूप हो ॥३९॥

त्वद्दत्तसंस्कारविशुद्धबुद्धिर्जन्मान्तरीयं स्मरतीह कर्म ।
स्मृतिस्वरूपे ! कुरुते सुकर्म त्रस्तो न भूयो लभते जनश्च ॥४०॥

'हे स्मृतिस्वरूपे ! तुम्हारे दिये हुए संस्कार के द्वारा विशुद्ध बुद्धि हो कर लोग पूर्व जन्म का कर्म स्मरण करते हैं और (इस संसार की विडम्बना से) डर कर अच्छा कर्म करते हैं तथा पुनः जन्म धारण नहीं करते (अर्थात् मुक्त हो जाते हैं) ॥४०॥

जीवाः समस्ता गृहपुत्रमित्राण्यनित्यरूपाण्यपि नित्यवद्यत् ।
बुभुक्षितास्चाप्यथ भोजयन्ति मोहाकृते ! ताँस्त्वदुदारशक्त्या ॥४१॥

'हे मोहरूपे ! सभी प्राणी अनित्य घर, पुत्र, मित्र को नित्य के जैसा मान कर स्वयं भूखे रह कर भी उन्हें खिलाते हैं । जिसमें भी तुम्हीं अपनी बड़ी शक्ति का प्रयोग करती हो ॥४१॥

त्वामेव देवाः सकलाः स्तुवन्ति निजेष्टदेवीमवगम्य सम्यक् ।
त्वयैव देव्यश्च सहात्मकान्तैर्मोदं लभन्ते परमा त्वमेव ॥४२॥

'सभी देवता तुम्हें ही भली-भाँति अपनी इष्ट देवी समझ कर तुम्हारी स्तुति करते हैं और देवियाँ भी तुम्हारे ही द्वारा अपने-अपने पति के साथ परमानन्द प्राप्त करती हैं, क्योंकि तुम्हीं सब से परे हो ॥४२॥

इन्द्रादयो वापि शिवादयो वा य ईश्वराः सन्ति महेश्वरा वा ।
न ते समर्थास्त्वदनुग्रहेण विनाऽवितुं स्वां प्रभुतां महेशि ? ॥४३॥

'हे महेशि ! इन्द्रादि देवता अथवा शिवादि महादेव भी जो ईश्वर या महेश्वर कहलाते हैं, वे सभी तुम्हारी कृपा के बिना अपने प्रभुत्व की रक्षा करने में समर्थ नहीं हो सकते हैं ॥४३॥

रजोधिका वापि तमःस्वरूपाः सत्त्वात्मिकाः प्राणभृतः समस्ताः ।
चराचराः सन्ति बहुप्रकारास्तेषां समेषां प्रकृतिस्त्वमेव ॥४४॥

'हे देवि ! सात्त्विक, राजस, तामस, चर-अचर बहुत प्रकार के प्राणी हैं, उन सबों की मूल उत्पादिका तुम्हीं हो ॥४४॥

कालप्रवाहो यदवेक्ष्यतेऽत्र तदीयमुत्सं जगदम्बिके त्वम् ।
अतो हि तद्रूपतया बिभासि सनातनी सर्वनिवासरूपा ॥४५॥

'इस संसार में समय का प्रवाह जो देखा जाता है, उसका उत्स तुम्हीं हो । इसी कारण तुम उन सबों के रूप दीख पड़ती हो, क्योंकि सनातन रूप से सभी में निवास करती हो ॥४५॥

यां त्वां समासाद्य मनुप्रभावं विस्तारयन्ते ह्यभिचाररूपम् ।
मन्यन्त आत्मानमुताथ कालं कालानुजं त्वं खलु कालरात्रिः ॥४६॥

'हे कालरात्रि ! मारणक्रिया करने वाले तुम्हें पा कर ही मारणमन्त्र का प्रभाव, या अपने को काल रूप या काल का भाई मान लेते हैं । |वे कुछ नहीं हैं; बस, काल रात्रि के रूप तुम्हीं हो ॥४६॥

विशिष्टकार्येण च केनचित्संविधाय यामान् पृथुलान् कदाचित् ।
प्रसन्नचन्द्रर्क्षविभूषिताङ्गी मेदस्विनी त्वं भवसि त्रियामा ॥४७॥

'हे देवि ! यद्यपि रात्रि त्रियामा है, परन्तु जब तुम किसी विशिष्ट कार्यवश किसी समय उन तीन प्रहरों को कार्यानुसार बहुत बड़ा बना कर, जिसमें तारे-चन्द्रमा खूब प्रसन्न हो कर चमक रहे हैं, वैसा विस्तृत रात्रिरूप धारण कर लेती हो, इसलिए तुम महारात्रि कहलाती हो ॥४७॥

कदाचिदज्ञानपटं समन्ताद्विस्तीर्य मुग्धानखिलान् विधत्से।
न कश्चनात्मानमथापरं वा जानाति घोरे! ननु मोहरात्रि! ॥४८॥

'जब कभी तुम अज्ञान का पर्दा फैला कर सभी लोगों को मोहित कर देती हो, तो उस घोर अन्धकार में किसी को भी अपने पराये का ज्ञान नहीं रह जाता है, क्योंकि तुम्हीं मोहरात्रि का रूप हो ॥४८॥

तवैव पादाब्जरजःप्रसादाद्भवन्ति लोके धनिकाग्रगण्या।
धराभृतो देशमशेषमेव श्रीरूपिणि! त्वत्कृपया लभन्ते ॥४९॥

'हे देवि! तुम्हारे ही चरणकमल की कृपा से कुछ लोग अत्यन्त धनाढ्य बन जाते हैं, राजा लोग समस्त देश पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेते हैं, अतः तुम्हीं श्रीरूप से अपने चरण-रज का प्रसाद प्रदान करती हो ॥४९॥

य ईश्वराख्यां पदवीं लभन्ते तेऽलं निजैश्वर्यमदेन मत्ताः।
यत्र त्वदीयास्ति दया स एव सर्वेशि! लोके विततप्रभावः ॥५०॥

'जो लोग ईश्वर नाम की पदवी पाते हैं, वे व्यर्थ ही ईश्वर होने के मद से मतवाले बन जाते हैं। हे सर्वेश्वरि! वास्तव में जिस पर तुम्हारी दया हो जाती है, संसार में उसी के ईश्वरत्व का प्रभाव फैल जाता है ॥५०॥

नवाङ्गना यामवलम्ब्य भर्तुर्नैवान्तिकं याति निजेच्छयारम्।
कुकर्मकृद्दर्शयते मुखं न ह्रीरूपमप्यस्ति तवैव देवि! ॥५१॥

'नई दुलहिन जिसे पा कर अपनी इच्छा से और दूसरे की प्रेरणा पर अपने पति के निकट शीघ्र नहीं आती है, और कुकर्म करने वाले जिसके चलते अपना मुँह नहीं दिखलाते, वह लज्जा तुम्हारा ही रूप है, अर्थात् लज्जारूपा तुम्हीं हो ॥५१॥

अभ्यस्य शास्त्राणि सुचिन्त्य नित्यं न कोपि सफलानि कर्तुम्।
हालाहलं बोधमपास्य शास्त्रं सा च त्वमेवासि मतिस्वरूपा ॥५२॥

'लोग शास्त्रों का अभ्यास करके और नित्य उनका चिन्तन करके भी उन शास्त्रों को सफल नहीं बना पाते। जब तक शास्त्रगत विषयों का ज्ञान नहीं होता, तब तक शास्त्र विष है। जब तक किसी को निर्मल बुद्धि नहीं होती, और वह बुद्धिरूप तुम्हीं हो, तबतक तुम्हारी कृपा के बिना सब व्यर्थ है ॥५२॥

भुक्त्वापि गव्यं धृतशर्करात्तं पुष्यच्छरीरो नहि कोपि जीवः।
कदन्नभुक् चाप्युपवासकृद्वा पुष्टो भवेत्पुष्टिमयि! त्वयैव ॥५३॥

'कोई प्राणी घी-शक्कर से गीले दुग्ध-पदार्थ को खा कर भी पुष्ट नहीं रहता और कोई कदन्न खा कर अथवा उपवास ही रह कर तुम्हारी कृपा से पुष्ट रहता है, क्योंकि पुष्टिरूपा तुम्हीं हो ॥५३॥

असङ्ख्यवित्तेश्वरतामवाप्य पुनस्तदाशावृतचित्तवृत्तिः ।
इतस्ततो धावति कश्चनान्यः शेते सुखं तुष्टिमयोऽद्भुतासि ॥५४॥

'संख्यातीत धन-राशि पा कर, उसे और भी पाने की आशा में इधर-उधर दौड़ा फिरता है, कभी चैन नहीं पाता; क्योंकि तुम्हीं विचित्र तुष्टि रूप हो । (जब तक तुम उनसे अलग हो, तब तक सन्तोष कहाँ ? चैन कहाँ ?) ॥५४॥

यस्मिँस्त्वदीयास्ति दया न देवि ! मनस्तदीयं विषयेषु सक्तम् ।
फलं शुभं नो लभते च तेन स शान्तिरूपेसि विचित्ररूपा ॥५५॥

'हे देवि ! जिस पर तुम्हारी दया नहीं है, उसका मन विषयों में आसक्त रहता है और इसी कारण वह शुभ फल नहीं पाता । तुम्हीं विचित्र शान्ति रूप हो ! ॥५५॥

यच्चेदसि त्वं वससि क्षमे ! त्र सौख्यं समस्तं लभते स एव ।
स ताड्यते क्रोधवशाभिभूतो न यत्र ते देवि ! दयास्ति पूर्णा ॥५६॥

'हे क्षमारूपे ! जिसके हृदय में तुम निवास करती हो, वही इस संसार में सब सुख पाता है । जिसके ऊपर तुम्हारी पूर्ण दया नहीं रहती और जिसके हृदय में तुम नहीं हो, वह तुरन्त क्रोधाभिभूत हो कर पिटाता है ॥५६॥

खड्गश्च शूलश्च गदाश्च चक्रं शङ्खं धनुर्बाणभुशुण्डिदण्डम् ।
बिभर्षि भक्तार्तिविनाशनाय त्रासाय भक्तार्तिकृतां सदैव ॥५७॥

'हे देवि ! भक्तों की पीड़ा नष्ट करने के लिए और भक्तों को कष्ट देने वालों को डराने के लिए तुम खड्ग, शूल, गदा, चक्र, शङ्ख, धनुष, वाण, लोहे का मोटा दण्ड बराबर धारण किये रहती हो ॥५७॥

सौम्याकृतीनां त्वमतीव सौम्या त्वत्तः परा सौम्यतरा न लोके ।
सौम्यत्वमेवास्ति तवाश्रितं यत्कथं न तादृग्भवसि त्वमेव ॥५८॥

'सुन्दर आकृति वाली स्त्रियों में तुम सबसे बढ़ कर सुन्दर हो । संसार में तुमसे अधिक सुन्दर कोई भी नहीं है । जब सौन्दर्य तुम्हारे ही अधीन है, तो तुम वैसी क्यों न हो ? ॥५८॥

गुणैरशेषैः परिपूरितत्वाल्लोके य उत्कृष्टतमा निरुक्ताः ।
कथं स्पृशेयुस्तव लेशमात्रमाधार एव त्वमसीह तेषाम् ॥५९॥

'सम्पूर्ण गुणों से परिपूर्ण होने के कारण जो संसार में उत्तम से उत्तम कहे जाते हैं, वे लोग भी तुम्हारे लेशमात्र का स्पर्श कैसे पा सकते हैं, जब कि सभी गुणों के आधाररूप तुम्हीं हो ॥५९॥

नित्यान्यनित्यानि च यानि लोके वस्तूनि तेषामपि या च शक्तिः ।
त्वमेव सा देवि ! यतः समस्तशक्तिस्वरूपासि च का स्तुतिस्ते ? ॥६०॥

'संसार में नित्य वा अनित्य जो भी वस्तुएँ हैं और उनमें जो भी शक्ति है, तुम्हीं समस्त शक्ति के रूप हो तो हे देवि ! तुम्हारी स्तुति क्या की जा सकती है ? ॥६०॥

जगद्विधाताहमपि त्वयैव जगद्विधातुं प्रभवामि देवि ! ।
पातुं हरिश्चापि जगत्समर्थो लोकेशि विश्वं हरते हरश्च ॥६१॥

'हे देवि ! मैं जो जगत् का विधाता बनूँगा और जगत् का विधान करूँगा, वह तुम्हारी कृपा से । विष्णु जो जगत् का पालन करने में समर्थ होते हैं या रुद्र भगवान् जो संसार का संहार करते हैं, वह तुम्हारे ही सहयोग से ॥६१॥

यद्वा निदानं सकलस्य जन्तोर्हरिस्त्वया पाति करोति हन्ति ।
जगत्समस्तं जगदम्बिकेसौ रूपाणि कृत्वा त्रिगुणात्मकानि ॥६२॥

'जब विष्णु तुम्हारे ही द्वारा त्रिगुणात्मक रूप धारण करके संसार का निर्माण, पालन और संहार करते हैं, तभी वे संसार के आदि कारण माने जाते हैं ॥६२॥

निद्रास्वरूपे मधुसूदनोऽसावपि त्वया स्वापित एतदा यत् ।
कथं स्तुतिस्ते जगदम्बिके स्यात्तत्त्वं प्रसीद स्वयमेव देवि ! ॥६३॥

'हे निद्रास्वरूपे ! विष्णु भी तुम्हारे द्वारा इस समय सुला दिये गये हैं तो उनकी स्तुति भी मैं कैसे कर सकता हूँ ? इसलिए हे देवि ! तुम स्वयं ही प्रसन्न हो जाओ ॥६३॥

इमौ मदान्धौ बलदर्पवन्तौ सम्मोह्य त्वं मम रक्षणाय ।
मातस्तथैवाशु विधेहि देवि । यथैव जागर्तु हरिः क्षणेन ॥६४॥

'मद से अन्धे बने हुए और बल के घमण्ड से उद्धत इन दोनों दैत्यों को मेरी रक्षा के लिए अत्यन्त मोहित कर दो और हे माता ! तुम शीघ्र ही ऐसा करो जिससे क्षणमात्र में भगवान् जाग जाएँ ॥६४॥

इति विधिर्विदधद्विविधं स्तवं मनसि तोषमसावति सन्दधे ।
ध्रुवमियं जगतोऽवनतत्परा भगवती मम शं सुविधास्यति ॥६५॥

स्तुति करने वाले विधाता ने विविध प्रकार की स्तुति करते हुए मन में सन्तोष धारण किया कि संसार की रक्षा करने में तत्पर भगवती निश्चय ही मेरा कल्याण भली-भाँति करेगी ॥६५॥

अखिलभुवनपात्री लोकधात्री नितान्तं
विविधविधिकृतस्तोत्रप्रसन्नान्तरात्मा ।
दनुजयुगवधाय ब्रह्मसंरक्षणाय
विहितमतिरभूच्छ्री विष्णुसम्बोधनाय ॥६६॥

समस्त संसार की रक्षा करने वाली, संसार को धारण करने वाली, ब्रह्मा के विविध स्तवनों से प्रसन्न चित्त होकर दोनों दानवों को मारने तथा ब्रह्मा की रक्षा करने और विष्णु भगवान् को जगाने की इच्छा की ॥६६॥

इति श्री देवीचरिते महाकाव्ये ब्रह्मप्रादुर्भावनिद्रास्तुतिर्नाम प्रथमः सर्गः । 'श्री देवीचरित महाकाव्य' में ब्रह्मा की उत्पत्ति तथा निद्रा देवी की स्तुति नामक प्रथम सर्ग समाप्त ।

द्वितीयः सर्गः

ततः स निद्रापरिमुक्तनेत्रहृद्धरिर्विलोलासितताररतारकम् ।
चकार चक्षुर्युगमीषदुन्मिषत्सरोजशोभाहरणं मनोहरम् ॥१॥

(इसके बाद) जब निद्रा देवी ने विष्णु भगवान् के नेत्र और हृदय को छोड़ दिया, तब भगवान् विष्णु ने अपने दोनों नेत्रों को, जिनकी विशाल काली पुतलियाँ चञ्चल हो रही थीं, कुछ खिलते हुए कमल की शोभा को हरण करने वाले सुन्दर बना दिया, अर्थात् भगवान् के नेत्र कुछ खुलने और बन्द होने लगे जैसा कि सो कर उठने के बाद होता है ।। १ ।।

निमील्य नेत्राब्जयुगं पुनश्च स प्रसार्य पादौ परिवर्त्य पार्श्वकम् ।
वितत्य हस्तान् परिपीड्य चाङ्गुलीरुदानवायुं वपुषि स्वचारयत् ॥२॥

फिर भगवान् ने दोनों नेत्रों को बन्द कर पैरों को फैला कर, करवट बदल कर हाथ तान कर, अङ्गुलियों को फोड़ कर सम्पूर्ण शरीर में वायु का संचार किया ।। २ ।।

विकाश्य भूयः स च नेत्रपङ्कजे निधाय भारं वपुषो निजे भुजे ।
तदीयपादौ निजपाणिपल्लवैर्निषेवमाणां कमलां व्यलोकयत् ॥३॥

इसके बाद भगवान् ने नेत्रों को पूर्ण विकसित करके और अपनी एक भुजा पर शरीर का भार दे कर देखा, तो अपने पैरों को नये पत्ते के समान लाल और कोमल हाथों से दबाती हुई चिर अर्द्धाङ्गिनी लक्ष्मी को पाया ।। ३ ।।

हरेर्मुखाम्भोजविलोकनोत्सवात्स्मिताननां चञ्चलनेत्रपङ्कजाम् ।
विलोक्य कान्तामनवद्यरूपिणीं जगाद विष्णुर्मनसा प्रशस्य ताम् ॥४॥

भगवान् के मुख कमल के दर्शन के आनन्द से मुस्कराती हुई, चञ्चल आखों वाली, चमत्कृत शरीर, अपनी पत्नी लक्ष्मी को देख कर मन ही मन प्रशंसा कर वे बोले— ॥४॥

समस्तलोके शयिते तथा मयि त्वमेव जागर्षि मनोरमे रमे ! ।
अतोसि विश्वस्य चराचरात्मनो ममेश्वरी चापि महामहेश्वरी ॥५॥

'हे सुन्दरी लक्ष्मी ! जब सारा संसार चिर निद्रा में सो जाता है और मैं भी सो जाता हूँ, तब तुम्हीं जागती रहती हो । अतः चर-अचर, सारे संसार की तथा मेरी भी तुम्हीं अधिष्ठात्री हो । तुम्हीं सबसे बड़ी ईश्वरी हो ॥५॥

यदास्य लोकस्य च सर्जनेऽवने विनाशने श्रान्तमतीव पश्यसि ।
तदा तु विश्रान्त्यति सर्जनाय वै त्वमेव मां शाययसे गतश्रमा ॥६॥

'जब तुम मुझे संसार का सृजन, पालन तथा संहार करते-करते अत्यन्त श्रान्त देखती हो, तो निश्चय ही अत्यन्त विश्राम देने के लिए मुझे सुला देती हो और तुम्हें तो कभी श्रम का अनुभव ही नहीं होता है ॥६॥

मयाऽथवा कारणभूतया त्वया जगत्समस्तं ननु देवि सृज्यते ।
तथाऽव्यते संह्रियते च सर्वदा सुशर्मदे ! सर्वजनादिभूतया ॥७॥

'हे अत्यन्त विश्राम देने वाली देवि ! मेरे द्वारा अथवा मूल कारणभूत तुम्हारे द्वारा बराबर समस्त जगत् का सृजन, पालन तथा संहार होता है; क्योंकि सब के आदि स्रोत तुम्हीं हो' ॥७॥

अलं प्रभोऽत्यर्थप्रशंसयाऽनया विना त्वया किं क्रियतेऽङ्गहीनया ।
मया समालोकनशक्तिशून्यया विधातुमेतद्भुवनं द्विरूपया ॥८॥

'हे प्रभो ! इस अत्यन्त प्रशंसा से क्या लाभ ? यह व्यर्थ है । आप के विना मैं अधूरी हूँ, तत्त्व-दर्शन-भक्ति से शून्य हूँ । पुरुष और स्त्री रूप मेरे शरीरों के संयोग से ही संसार का सृजन हो सकता है ॥८॥

अलं विधातुं प्रकृतिर्जगत्कथं दया न पुंसो यदि तत्र निश्चला ।
कथं स्थिरं स्याद्विहितं च विष्टपं न चाल्यते स्यन्दनमेकचक्रतः ॥९॥

'केवल प्रकृति जगत् का निर्माण करने में समर्थ कैसे हो सकती है, यदि पुरुष की दया न हो ? और यदि हो भी जाये, तो वह (संसार) स्थिर कैसे रह सकता है ? क्योंकि एक चक्के से गाडी नहीं चल सकती है ॥९॥

विपश्चितो ये मयि च त्वयीश्वरे विभेदबुद्धिं विदधत्यबोधतः ।
न सन्ति ते तत्त्वविदो ध्रुवं विभो ! कथं भवेदीश ! विभिन्नताऽऽवयोः ॥१०॥

'जो भी विद्वान् हमारे और ईश्वर-रूप तुम्हारे में अज्ञान वश विभेद-बुद्धि रखते हैं, वे निश्चय ही यथार्थ तत्त्व के ज्ञाता नहीं हैं । हे प्रभो ! हे ईश्वर ! हम दोनों में विभिन्नता कैसे हो सकती है ?' ॥१०॥

परस्परं संलपतोस्तयोर्महान् श्रुतो रवः सागरनादमिश्रितः ।
अलं व्रज त्राहि च दीननिस्वनस्ततो हरिर्ध्यानपरायणोऽभवत् ॥११॥

इस प्रकार परस्पर बातें करते हुए उन दोनों के समक्ष समुद्र की गर्जना से मिश्रित एक महान् शब्द सुन पड़ा । इसके बाद ''आह, हटो, बचाओ !''—इस प्रकार वह ध्वनि बहुत ही दीन स्वर में बदल गई । तब भगवान् ने ध्यान लगाया ॥११॥

स चिन्तयन् घोरतमौ घनध्वनी समुत्कचौ भीषणरक्तलोचनौ ।
प्रवेपमानं विधिमत्तुमुद्यतौ ददर्श दैत्यौ जगदीश्वरो हरिः ॥१२॥

उस जगत्पति भगवान् ने ध्यान में देखा कि दो बड़े भयंकर दैत्य जोरों से गरज रहे हैं; ऊपर की ओर उनके बाल उठे हुए हैं, उनकी आँखें लाल हैं और वे काँपते हुए ब्रह्मा जी को खाने के लिए तैयार हैं ।।१२।।

अनन्तशय्यामतिहाय माधवश्चिरोपलब्धाञ्च निजप्रियामपि ।
द्रुतं जगामाक्रमितुं महासुरौ विधातृरक्षार्थमसौ कृपाकरः ।।१३।।

तब सब पर अहैतुकी कृपा करने वाले भगवान् ब्रह्माजी की रक्षा करने के लिए शेषशय्या और बहुत समय के बाद मिली हुई प्रिया को भी छोड़ कर उन दोनों दैत्यों के ऊपर आक्रमण करने शीघ्र दौड़े ।।१३।।

किमुद्यतौ वां तपसातिजर्जरं निरायुधं हन्तुमरे पितामहम् ।
तवान्तकं मामवलोक्य तिष्ठतं जगाद विष्णुर्मधुकैटभासुरौ ।।१४।।

भगवान् उन दोनों दैत्यों से बोले—'अरे दैत्यो ! तुम दोनों तपस्या से जर्जर, बिना हथियार के, ब्रह्मा को मारने को क्यों उद्यत हो रहे हो ? अपना अन्त करने वाले मुझे देख कर ठहरो' ।।१४।।

विहाय कं तञ्च विलोक्य विस्मितौ विहस्य भूयोऽन्तिकमागतौ हरेः ।
क एष आवां वचसाऽवमानयन् स्वयं यमास्ये रभसाद्विविक्षति ।।१५।।

(यह सुनकर) दोनों दैत्य ब्रह्मा को छोड़ कर उन्हें (विष्णु को) देखकर आश्चर्य में पड़ गये और फिर उनके निकट में जा कर जोरों से हँस कर बोले—'यह कौन है ? इस बात से यह हम दोनों का अपमान कर रहा है और शीघ्र ही स्वयं काल के मुँह में घुसना चाहता है' ।।१५।।

इति प्रगल्भं मधुकैटभोदितं निशम्य विष्णुस्तरसाप्युपाद्रवत् ।
सुरद्रुहौ चापि तदीयकर्णजौ समुद्यतौ योद्धुमलम्बभूवतुः ।।१६।।

भगवान् विष्णु इस प्रकार ढीठ मधुकैटभ के कहे हुए वचन को सुन कर बड़े वेग से उनके पास दौड़े। उनके (विष्णु के) ही कान से उत्पन्न मधुकैटभ भी भगवान् से युद्ध करने के लिए एक दम तैयार हो गये ।।१६।।

करैः समादाय तयोः करानथ हरिश्च पादौ क्रमशो निजाङ्घ्रिणा ।
समाचकर्षाशु च तौ महासुरौ निपेततुर्वारिचयेऽतिवेगतः ।।१७।।

तब भगवान् ने उन दोनों के हाथों को अपने हाथों से पकड़ कर पैर से उन दोनों के पैरों को क्रमशः इतनी जल्दी खींच लिया कि वे दोनों समुद्र की जल-राशि में बड़े वेग से गिर पड़े ।।१७।।

पुनः समुत्थाय च तौ हरिं बलाल्ललम्बतुर्बाहुभिरात्मनो दृढम् ।
ततो हरिश्चापि निजं वपुर्भृशं समैधयत् कौतुकपूर्णमानसः ।।१८।।

फिर उन दोनों ने उठ कर अपने हाथों से भगवान् को खूब मजबूती के साथ पकड़ लिया। इसके बाद कौतुकी हृदय भगवान् ने अपने शरीर को बहुत मोटा और लम्बा बना दिया ॥१८॥

न तं यदा धर्तुमलम्बभूवतुर्विशालताकृष्टसिरौ महासुरौ।
तदा समुद्विग्नहृदावनिच्छया सखेदमेवात्यजतां रमापतिम् ॥१९॥

भगवान् का शरीर इतना मोटा हो गया कि उन दोनों की नसें तड़तड़ाने लगीं और वे दोनों उन्हें पकड़ने में समर्थ नहीं हो सके। तब उन दोनों ने अत्यन्त उद्विग्नचित्त हो कर, इच्छा न रहने पर भी, बड़े खेद के साथ भगवान् को छोड़ दिया ॥१९॥

तयोः समादाय पदौ स्वपाणिभिर्मुरारिराभ्राम्य सुदूरमक्षिपत्।
न चेज्जलं स्यात्परितस्तदा ध्रुवं समुद्गतासू परिचूर्णगात्रकौ ॥२०॥

तब भगवान् ने अपने हाथों से उन दोनों दैत्यों को उनके पैर पकड़ कर, घुमा कर बहुत दूर फेंक दिया। यदि सभी ओर जल नहीं होता, तो निश्चय ही उनके शरीर चूर-चूर हो जाते और वे दोनों मर जाते ॥२०॥

द्रुतं समागत्य कटिं ततो हरेरवेष्टयेतां निजपाणिबन्धनैः।
समैच्छतां पातयितुं न सोऽपतन्न भूमिभृद्वायुरयेण चाल्यते ॥२१॥

तब वे दोनों दौड़ कर आये और उन्होंने भगवान् की कमर को अपने हाथ रूपी रस्सी से कस लिया। व उन्हें गिराना चाह कर भी नहीं गिरा सके। क्या पहाड़ कहीं हवा के झोंके से गिरता है? ॥२१॥

वपुर्विधायाथ कृशं रमाधवो विनिर्गतस्तत्करवेष्टनाच्छनैः।
क्रुधा श्वसन्तावतिरक्तलोचनौ न जज्ञतुस्तौ हरिमात्मनिर्गतम् ॥२२॥

तब भगवान् ने यह कौतुक किया कि अति दुर्बल शरीर धारण कर उनके बाहु-बन्धन से धीरे से निकल गये। क्रोध से अत्यन्त लाल आँखें किये हुए, जोरों की साँसें लेते हुए अपने पास से निकले हुए भगवान् को वे नहीं जान सके ॥२२॥

दयां तदीयामनवाप्य कोप्यमुं महत्तमं तन्महतो विवेद नो।
अणीयसश्चाप्यणुरूपतोऽधिकमवाप्नुयातान्नु कथं मदोद्धतौ ॥२३॥

बिना भगवान् की दया के महान् से महान् भी उन्हें कौन जान सकता है? परमाणु से भी अति सूक्ष्मरूप भगवान् को वे मदान्ध दैत्य कैसे पकड़ सकते थे? ॥२३॥

हरिं विदन्तौ तु परस्परं भृशमुपाक्रमेतामति ताडितुं बलात् ।
गतेषु वारेष्वथ तौ विजज्ञतुर्मुधा प्रहारः क्रियते परस्परम् ।।२४।।

भगवान् को घेरे में पड़े हुए ही जान कर वे दोनों आपस में ही जोरों से प्रहार करने लगे। बहुत दिन बीतने पर उन्होंने समझा कि हम लोग परस्पर व्यर्थ ही मार-पीट कर रहे हैं ।।२४।।

हसन्तमन्योन्यप्रहारतत्परौ व्यलोकयेता पयसि स्थितं हरिम् ।
मुकुन्दपार्श्वं समुपागतौ ततः सुसज्य मुष्टीरभिहन्तुमुद्यतौ ।।२५।।

आपस में ही मार-पीट की धुन में लगे हुए उन दानवों ने जब देखा कि हरि जल में खड़े हँस रहे हैं, तो उन्हें मारने के लिए मुट्ठियों को साज कर (बाँध कर) वे भगवान् के पास पहुँचे ।।२५।।

समाव्रजन्तौ तरसा रमाधवो निहत्य जानुं च पदाऽभ्यपातयत् ।
न यत्तदीया परितुत्रुटुर्द्विजा निदानमेतस्य जलौघता ध्रुवम् ।।२६।।

भगवान् ने वेग से आते हुए उन दोनों को देख कर उनके ठेहुने पर अपने पैर से ऐसी ठोकर मारी कि दोनों गिर गये। यह तो जलभाग था, नहीं तो उनके दाँत नहीं बचते ।।२६।।

ततश्च संस्फोट्य निजोरुयुग्मकं हरिं समावृत्य निजैर्भुजैर्भृशम् ।
निपातयामासतुरोजसाऽसुरौ स चापि तच्चित्तमवर्द्धयल्लघु ।।२७।।

तब उन दोनों असुरों ने ताल ठोक कर अपने हाथों से अत्यन्त लपेट कर बहुत वेग से भगवान् को गिरा दिया। इस कर्म से भगवान् ने उनके हृदय को कुछ ऊँचा कर दिया ।।२७।।

मुरारिरुत्थाय तदीयमस्तके अघट्टयद्वज्रनिपातसंव्यथे ।
ललम्बतुर्निर्गतलोचने यथा विनिःसृतास्रे हरिकर्णसम्भवौ ।।२८।।

भगवान् ने उठ कर उन दोनों के सिरों को ऐसा लड़ा दिया कि वज्र गिरे के ऐसा ठनक गया और उन्हें ऐसा लगा कि उनकी दोनों आँखें निकल गई हों और उनसे आँसू निकलने लगे ।।२८।।

तयोर्हरेरेकतरः पदान्तरं प्रविश्य तं स्कन्धभरेण दानवः ।
निधाय जानूर्ध्वमतिष्ठिपत्करावपीडयत्तद्गलमूरुणा हरिः ।।२९।।

उन दोनों में से एक ने भगवान् के दोनों पैरों के बीच घुस कर उनको कन्धे पर उठा लिया और चाहा कि उन्हें पटक दें, पर भगवान् ने उसके गले को अपनी जाँघ से बलपूर्वक दबा दिया ।।२९।।

पदं समालम्ब्य हरेस्तथा परः समाचकर्षाशु पपात माधवः।
तदूरुयुग्मेन निपीडितो भृशं सहैव दैत्यः पतितो महार्णवे ॥३०॥

दूसरे ने भगवान् के पैर पकड़ कर खींच लिये, जिससे वे धड़ाम से गिर पड़े और भगवान् की दोनों जांघों से दब कर अत्यन्त पीड़ित हो कर वह दैत्य भगवान् के साथ ही महासमुद्र में गिर गया ॥३०॥

इतीव युद्धं परिकुर्वतां मिथो गतं समानामयुतार्धकं क्रमात्।
जिगाय विष्णुर्न च तौ महासुरावभून्न कुत्रापि जयश्रियः स्थितिः ॥३१॥

क्रमशः इसी प्रकार परस्पर युद्ध करते-करते पाँच हजार वर्ष बीत गये। न तो भगवान् ही उन्हें जीत सके, न ही वे दोनों। विजय लक्ष्मी की स्थिरता किसी की ओर न हो सकी ॥३१॥

विधाय विष्णुर्विविधान् पराक्रमानुपायराशिं विजये च वैरिणोः।
यदा न साफल्यमितोऽतिविस्मितो विषण्णचेता अभवद्विलज्जितः ॥३२॥

भगवान् विष्णु ने उन दोनों शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए अनेक प्रकार से पराक्रम लगाया और कोई उपाय भी बाकी नहीं रखा। जब सफलता नहीं मिली तब वे अत्यन्त आश्चर्य में पड़ गये और विषण्ण हृदय हो गये। इससे इन्हें संकोच लगने लगा ॥३२॥

भटौ भवेतां न तथाविधौ कथं तत्कर्णजातौ मलरूपिणावपि।
पुत्रो भवत्येव यतः समः पितुः कार्ये समायाति हि कारणो गुणः ॥३३॥

वे दोनों दैत्य वैसे महावीर क्यों न हों ? यद्यपि मैले के ही रूप हैं, पर हैं तो उन्हीं के कान से पैदा हुए। पुत्र पिता के समान होता है; क्योंकि समवायी कारण का गुण कार्य में वर्तमान रहता है ॥३३॥

यदा स्वतन्त्रो मदमूर्खता बलोऽबलं जनं कश्चिदवेक्षते बलात्।
प्रपीडयत्येव हि भावदुर्बलः कुलेपि जातो विमले सुविश्रुते ॥३४॥

(परन्तु उस में भी एक विशेषता है कि) जब कोई पुत्र मद और मूर्खता को अपना बल मान पिता से सम्बन्ध-विच्छेद कर किसी को अपने सामने बलवान् नहीं समझता, तब निर्मल और विशेष कुल में उत्पन्न हो कर भी निर्बल को सताने लगता है ॥३४॥

सुरादिजातावपि तौ यदाऽसुरौ बभूवतुर्नात्र हि कापि चित्रता।
यज्जागरूकस्य विनिद्रितस्य वै हरेरभूता श्रुतिमार्गतः स्वयम् ॥३५॥

यदि वे दोनों दैत्य सभी देवताओं के भी पहले पैदा हुए, तो क्यों न वैसे हों ? इसमें आश्चर्य ही क्या है ? और साथ ही बराबर जागृत रहने वाले

भगवान् के भी कान से वे उस समय स्वयं पैदा हुए थे जब भगवान् भी घोर निद्रा में थे ॥३५॥

अलं न विष्णुर्जगदीश्वरोपि सन् मलं विजेतुं निजकर्णसम्भवम् ।
बभूव मायामतिहाय शाश्वतीं प्रधानरूपा खलु सैव वर्तते ॥३६॥

शाश्वती माया के सहयोग बिना जब जगदीश्वर हो कर भी विष्णु अपने कान के मैल से पैदा हुए उन दैत्यों को जीतने में समर्थ नहीं हुए, तो समझ गये कि सबसे प्रधान वही हैं ॥३६॥

ततस्तु मायाऽखिललोकमोहिनी हरिप्रिया वीक्ष्य धवं सुविह्वलम् ।
इयेष दैत्यो परिमोहितुं तथा प्रसादनायात्मप्रियस्य चक्रिणः ॥३७॥

समस्त संसार को मोहित करने वाली विष्णु-प्रिया माया ने जब यह देखा कि मेरे पति इन दानवों के कारण व्याकुल हो रहे हैं, तो उन्होंने उन दैत्यों को मोहित करने तथा अपने चक्रधारी पति को प्रसन्न करने की इच्छा की ॥३७॥

यदेव कर्तुं भुवनेषु जायते यदा समिच्छा जगदम्बिकाहृदि ।
तदैव तत्कार्यमरं प्रसिध्यति न कालमेषा सहते कथञ्चन ॥३८॥

संसार में जिस समय जो कुछ करने की प्रबल इच्छा जगदम्बा के हृदय में होती है, वह कार्य अविलम्ब सिद्ध हो जाता है; क्योंकि इनकी प्रबल इच्छा किसी प्रकार से समय का सहन नहीं करती ॥३८॥

महासुरौ शक्तिविमोहितौ तदा हरिं विहस्योचतुरात्मगर्विणौ ।
अलं युधा शक्तिरलं न तेऽग्रतो ममास्ति तद्गच्छ यदृच्छयान्यतः ॥३९॥

तब आत्माभिमानी वे दोनों दैत्य महाशक्ति से मोहित हो जाने पर हँस कर भगवान् से बोले—'अब तुम्हारे लिए युद्ध करना व्यर्थ है। मेरे सामने युद्ध करने की तुम्हारी शक्ति नहीं है इसलिए जहाँ भी इच्छा हो, कहीं दूसरी जगह चले जाओ ॥३९॥

उतावयोः सम्मुखमागतस्य ते न रिक्तपाणेरुचितं निवर्तनम् ।
त्वयि प्रसन्नौ वरदौ निबोध नौ हरे लभस्वेष्टतमं मनोरथम् ॥४०॥

अथवा हम दोनों के सामने आने के बाद खाली हाथ लौटना तुम्हारे लिए ठीक नहीं। अतः हे विष्णो! हम दोनों को प्रसन्न हो कर वर देने के लिए प्रस्तुत जानो और जो भी अभीष्ट मनोरथ हो माँगो ॥४०॥

स्वभक्तवश्यस्य सदा विरागिणो न कश्चिदिष्टं स्वजनावनादृते ।
युवां प्रमत्तौ मम भक्तनाशकावतो यमास्ये व्रजतं मयाधुना ॥४१॥

सभी वस्तुओं से सदा निस्पृह रहने वाले, परन्तु केवल अपने भक्त के वशी-

भूत भगवान् ने कहा—'अधिक मतवाले हो मेरे भक्त को नाश करने को तत्पर तुम दोनों इस समय मेरे द्वारा काल के मुँह में घुसो' ॥४१॥

इदं समाकर्ण्य विचिन्त्य चेतसा न युक्तमुक्तं वरदानहेतवे।
किमत्र कुर्व:, कथमात्मरक्षणं भवेत्प्रतिज्ञापि च नैव निष्फला ॥४२॥

यह बात सुन कर दोनों दैत्यों ने मन ही मन सोचा कि वर देने को कह कर ठीक नहीं किया। अब क्या करें? अपनी रक्षा कैसे हो सकती है और प्रतिज्ञा भी निष्फल न हो? ॥४२॥

जगत्प्रभोरङ्गसमुद्भवाविमौ कथं प्रतिज्ञां त्यजतां स्वयं कृताम्।
शरीरमेतन्न चिराय तिष्ठति प्रहीयते तथ्यगिराऽमलं यशः ॥४३॥

जगदीश्वर के अङ्ग से उत्पन्न स्वयं की हुई प्रतिज्ञा को कैसे छोड़ सकता है? यह शरीर तो चिरस्थायी नहीं है, किन्तु झूठ बोलने से निर्मल यश नष्ट हो जाता है ॥४३॥

व्यचिन्तयेतां परितो विलोक्य कमुपाय एषोऽवन आवयोर्महान्।
न च प्रतिज्ञा विफला भवेदपि व्यवोचतांताविति चक्रधारिणम् ॥४४॥

दोनों ने सभी ओर जल देख कर सोचा कि हम दोनों की रक्षा का बस यही एक महान् उपाय है और प्रतिज्ञा भी निष्फल न होगी। वे चक्रधारी भगवान् से बोले— ॥४४॥

रमापते ते ध्रुवमेव याचनं प्रपूरयिष्याव इतीह निश्चयः।
परं न यत्रास्ति मही जलाप्लुता सुखं त्वमावां जहि तत्र मा चिरम् ॥४५॥

'हे रमापते! हम दोनों तुम्हारी माँग को यहीं पर अवश्य पूर्ण करेंगे, यह निश्चय जानो, परन्तु जहाँ पर जल में डूबी हुई पृथ्वी नहीं हो, वहीं पर आनन्द से हम दोनों को मारो, देर मत करो' ॥४५॥

निशम्य तद्वाक्यमथो विशङ्कितं रमापतिर्युक्तिविशारदोऽवदत्।
यथा युवाभ्यां मम याचनं मतं यथा करिष्येऽभिहितं वचोप्यहम् ॥४६॥

शङ्कारहित उनकी बात को सुन कर युक्ति-विशारद भगवान् बोले—'जैसे तुम दोनों ने मेरी याचना को मान लिया है, वैसे मैं भी तुम्हारे वचन को पूरा करूँगा ॥४६॥

स दैत्यहन्तेत्यभिधाय तच्छिरोद्वयं समाधाय निजोरुपृष्ठके।
जगाद दैत्यो विहसन् रमापतिर्न तोयमत्रास्ति सुपश्यतं युवाम् ॥४७॥

इसके बाद दैत्यों का हनन करने वाले भगवान् यह कह कर उन दोनों के

सिर को अपनी जाँघ पर रख कर उनसे हँसते हुए बोले—'यहाँ पर जल नहीं है, तुम अच्छी तरह देख लो' ॥४७॥

न यावदेतावतिमुग्धचेतसौ विचिन्त्य किञ्चित्सहसा तमूचतुः ।
तदैव विष्णुः शिरसी तयोर्द्रुतं चकर्त चक्रेण निशानकोटिना ॥४८॥

अत्यन्त मोहितचित्त वे दोनों जब तक एकाएक सोच कर भगवान् से बोलने भी नहीं पाये कि भगवान् ने उन दोनों के सिरों को तेज धार वाले चक्र से तत्क्षण काट दिये ॥४८॥

विनिद्रतां यत्प्रययौ क्षणादसौ सतन्द्र आसीन्नु तदापि माधवः ।
न चेत्कथं स्वाङ्गसमुद्भवाविमौ निहन्तुमुग्रावपि तत्परोऽभवत् ॥४९॥

भगवान् अभी जगे ही थे। जान पड़ता है कि उनकी तन्द्रा अब तक नहीं गयी थी। नहीं तो वे कितने ही दुष्ट क्यों न हों, आखिर थे तो उन्हीं के अङ्ग से पैदा हुए। वे उनको मारने के लिए कैसे तैयार हो गये ? ॥४९॥

न कश्चनात्माङ्गसमुद्भवान् हठान्निहन्ति शाठ्योपहतान्तरानपि ।
परापकारप्रवणान् विलोक्य तान् ददाति दण्डं परमेव केवलम् ॥५०॥

शठता से भरे हृदय वाले भी आत्मज को नहीं मारते। जब वे देखते हैं कि वह हठ पूर्वक दूसरे की बुराई में ही बराबर लगा है, फिर भी जान से न मार कर वे उसे कोई दूसरा ही दण्ड देते हैं ॥५०॥

विलोक्य यद्भ्रातिनिपीडितं प्रियं सुतं परेणात्मसुतेन कश्चन ।
सशस्त्रपाणिस्तरसा प्रधावति रुणत्ति वात्सल्यममुं च तत्क्षणम् ॥५१॥

अथवा कोई व्यक्ति अपने ही एक दूसरे दुष्ट लड़के से किसी प्रिय पुत्र को अत्यन्त सताये हुए देख कर झट तलवार ले कर दौड़ पड़ता है, परन्तु वात्सल्य उसे वैसा करने से तुरन्त रोक देता है ॥५१॥

उत प्रसुप्तस्य हरेर्विनिर्गतौ श्रुतिद्वयात्तेन न बुद्धवानसौ ।
निजाङ्गजाताविति नो व्यधात्तयोः कृपां न वात्सल्यममुं रुरोध च ॥५२॥

अथवा सोये हुए में दोनों दैत्यों को अपने कान से निकलने के कारण भगवान् उन्हें नहीं जान सके कि वे उनके अङ्गज हैं। इसी लिए उन पर भगवान् ने कृपा नहीं की (मार डाला) और वात्सल्य ने भी भगवान् को नहीं रोका ॥५२॥

कथन्नु वैतर्हि भवेद्धराविति न लोकसामान्यगुणः स ईश्वरः ।
निजांशजातोऽविदितोपि मानसं बलादिवाकर्षति सर्वदेहिनाम् ॥५३॥

क्या भगवान् लोक साधारण गुण रखने वाले हैं ? वे ईश्वर हैं । प्रायः लोक में भी ऐसा देखा जाता है कि अपने अनजान पुत्र पर जब दृष्टि पड़ती है, तो बलात् उसका मन उस ओर खिंच गया है ।।५३।।

न किञ्चिदन्यत्खलु तत्र कारणं जगन्नियन्त्री भुवनैकमोहिनी ।
वितत्य मोहात्मकजालमद्भुतं विधापयत्येव जनैः समां क्रियाम् ।।५४।।

नहीं-नहीं, यहाँ कोई दूसरा कारण नहीं है। संसार को मोहित करने वाली और नियन्त्रण में रखने वाली एकमात्र महामाया मोहात्मक विचित्र जाल फैला कर लोगों से समस्त कार्य करवा देती है ।।५४।।

इत्थं निरापदममौ हरिणा विधाप्य
ब्रह्माणमब्जभवमाशु ययौ स्वधाम ।
मायाऽथ तेन भुवनं निरमापयत्त-
त्पश्चाद्विपन्नमवति स्म सहामरेन्द्रम् ।।५५।।

इस प्रकार महामाया भगवान् के द्वारा कमलोद्भव ब्रह्मा को निरापद बना कर शीघ्र ही अपने दिव्य धाम को चली गई। इसके बाद उनके द्वारा संसार का उसने निर्माण करवाया और बड़े-बड़े देवताओं के साथ ही विपन्न संसार की रक्षा की ।।५५।।

इति श्रीदेवीचरिते महाकाव्ये मधुकैटभवधो नाम द्वितीयः सर्गः ।

'श्री देवीचरित महाकाव्य' में मधुकैटभवध नामक द्वितीय सर्ग समाप्त ।

●

तृतीयः सर्गः

महिषाख्योऽभवत्कश्चिद्दैत्यः परमदारुणः ।
सुरेषु कदनात्सोपि तया देव्या हतो मृधे ॥१॥

महिष नामक एक महा क्रूर दैत्य था। वह भी देवताओं के बीच उत्पात मचाने के कारण उस देवी के द्वारा युद्ध में मारा गया ॥१॥

बलदर्पविमूढोसावावृतः सचिवैर्निजैः ।
तमःप्रकृतिभिर्मन्द एकदाऽचिन्तयद्रहः ॥२॥

बल के घमण्ड से अत्यन्त मूढ़ एवं मन्द बना हुआ उस (महिष) ने तामस स्वभाव वाले अपने मन्त्रियों के बीच एक समय एकान्त में विचार किया—॥२॥

किमु शूरतमानां नो लोकोत्तरपराक्रमैः ।
यत्सुरा एव नाकस्योपभोगं कुर्वते परम् ॥३॥

'हम लोगों के सबसे बड़े वीर एवं लोकोत्तर पराक्रम वाले होने से क्या हुआ जब कि केवल देवता लोग ही स्वर्ग के उत्तम सुख का उपभोग कर रहे हैं ॥३॥

ऐश्वर्यमधिकृत्यापि कदर्यंगणसेवितम् ।
यो दधातीह सन्तोषं पतितो न ततोऽपरः ॥४॥

'ऐश्वर्य पा कर भी जो सन्तोष धारण करता है वह कायर है, उससे बढ़ कर कोई दूसरा पतित नहीं है ॥४॥

जये युधि सुखावाप्तिर्मृतावपि परम्पदम् ।
करयुग्मगतं लड्डुद्वयं केन विहीयते ? ॥५॥

यदि युद्ध में विजय प्राप्त हुई तो सुख मिला; यदि मृत्यु हुई तो परम पद मिला। दोनों हाथों में रखे लड्डू को कौन फेंक सकता है ॥५॥

निरुद्यमा सुरा अन्यदत्तभागभुजः कथम् ?
स्थास्यन्ति बलहीनास्ते बलवत्सेविते रणे ॥६॥

'युद्ध में उत्साह पूर्वक जाना बलवान का काम है। उसमें निरुद्योगी, दूसरे के दिये हुए भाग खाने वाले, बलहीन देवगण कैसे ठहरेंगे ? ॥६॥

गजयूथमभिद्राव्य सिंहपोतो यथा सुरान् ।
विजित्य समरे स्वर्गसुखं भोक्ष्ये भवद्युतः ॥७॥

जैसे सिंह का बच्चा हाथियों के झुण्ड में घुसता है और वे इधर-उधर भाग खड़े होते हैं, उसी प्रकार युद्ध में देवताओं को जीत कर आप सब के साथ मैं स्वर्ग का सुख भोगूंगा ॥७॥

तदाशु सचिवाः देवेश्वरे यानं विधीयताम् ।
समुद्रे शोषिते क्षुद्रनदानां गणनेव का ? ॥८॥

'इसलिए हे मन्त्रियो ! शीघ्रतर देवेश पर चढाई कर दें । जब समुद्र ही सूख जायगा तो छोटे-छोटे नद किस गिनती में हैं ?' ॥८॥

सचिवास्तदुपाकर्ण्य मुधातद्वाक्यपोषकाः ।
करैस्तालं समास्फोट्य जगदुर्हासपूर्वकम् ॥९॥

उसके मिथ्या वचन को पुष्ट करने वाले मन्त्रिगण जोर-जोर से तालियाँ बजा कर हँसते हुए बोले —॥९॥

कः स्पृशेदाशयं राजन् गम्भीरं तेर्णवोपमम् ।
गुरुणापि न नः खण्ड्यः सिद्धान्तो निश्चितस्त्वया ॥१०॥

'हे राजन् ! समुद्र के समान गम्भीर आपके अन्तःकरण को कौन छू सकता है ? जिस सिद्धान्त को आपने पक्का कर रखा है उसे गुरुजी भी नहीं काट सकते ॥१०॥

त्वन्नामश्रवणादेव स्वर्गं त्यक्ष्यति वासवः ।
कोऽज्ञानादनलं धर्तुं करं वर्द्धयते वृथा ॥११॥

'स्वर्गेश इन्द्र तो आपका नाम सुनते ही स्वर्ग छोड़ कर भाग जाएँगे । कौन होगा जो अज्ञानवश आग पकड़ने के लिए बेकार हाथ बढ़ाएगा ? ॥११॥

तद्विलम्बो न कर्त्तव्यः शुभे कार्ये महाबल ।
साम्प्रतं भृगुमाहूय युद्धयानं विचिन्त्यताम् ॥१२॥

'(अतः) हे महाबलशाली प्रभो ! शुभ कार्य में विलम्ब नहीं करना चाहिए । शीघ्र ही शुक्राचार्य को बुलाकर युद्ध की यात्रा विचार ली जाय ॥१२॥

ज्यौतिषं शास्त्रमस्माकं पूर्वजेनापि मानितम् ।
प्रत्यक्षफलदं यस्य साक्षिणाविन्दुभास्करौ ॥१३॥

'ज्योतिषशास्त्र को हमारे पूर्वजों ने भी माना है, क्योंकि यह प्रत्यक्ष फल देने वाला है । इसके साक्षी चन्द्रमा और सूर्य हैं' ॥१३॥

दशम्यां पुष्यनक्षत्रे गुरुवारे च सिंहभे ।
भृगुदिष्टं व्यधाद्यानं युद्धाय महिषासुरः ॥१४॥

महिषासुर ने शुक्राचार्य की दो हुई दशमी तिथि गुरुवार दिन को पुष्य नक्षत्र में युद्ध यात्रा कर दी ॥१४॥

सव्यार्चिरनलो नाऽभूत्तदीया वामतो चिता ।
शत्रुणा क्रम्यमाणोपि दक्षिणः को भवेद्भुवि ॥१५॥

यात्रा में जो हवन किया जाता है उसमें अग्नि दक्षिणावर्त्त हो कर प्रज्जवलित नहीं हुई । उन्हें वाम रहना उचित ही था । जिस पर शत्रु का आक्रमण होता है, वह दक्षिण (संहारक) कैसे बन सकता है ? ॥१५॥

प्रतिकूलोऽभवद्वायुस्तद्यात्राविघ्नहेतवे ।
स्वस्मिन्नाक्रम्यमाणस्य सदृशं चेष्टितं हि तत् ॥१६॥

उसकी युद्ध-यात्रा में विघ्न पैदा करने के लिए वायु देव भी प्रतिकूल हो गये । (प्रतिकूल हवा चलने लगी ।) अपने ही ऊपर आक्रमण करने वाले के प्रति तो यह उचित ही चेष्टा है ॥१६॥

जलपूर्णघटस्तेन पुरतो न विलोकितः ।
[1]पत्युराक्रम्यमाणस्य भक्तिस्तोयेन दर्शिता ॥१७॥

युद्ध-यात्री महिष ने यात्राकाल में भरे हुए घड़े को नहीं देखा । जल देवता के स्वामी पर ही तो आक्रमण हो रहा था ! उन्होंने स्वामिभक्ति दिखलाई ॥१७॥

कथमाक्रम्यमाणोपि वरुणो मीनमुत्तमम् ।
दर्शयेदग्रतस्तस्य तद्यात्राशुभहेतवे ॥१८॥

जिनके ऊपर आक्रमण किया जा रहा है वह वरुण जल में पैदा होने वाली मछली को यात्रा को शुभ बनाने के लिए उसे सामने कैसे देखने देते ? ॥१८॥

तद्यात्राविघ्नकर्ता यन्महिषः पुरतोऽपतत् ।
आक्रम्यमाणवाहस्य योग्यमेतद्विचेष्टितम् ॥१९॥

इस यात्रा में विघ्न पहुँचाने के लिए सामने भैंसा आ पड़ा । जिस पर आक्रमण हो रहा है उसके वाहन के लिए यह तो उचित ही कार्य हुआ ॥१९॥

यानि यान्यशुभानीह प्रोक्तानि शकुनानि, न ।
तानि वै युद्धयात्रायां भवन्ति बुधवाक्यतः ॥२०॥

विद्वानों का कहना है कि और यात्राओं में जो अपशकुन हैं, वे युद्ध-यात्रा में अशुभ नहीं होते ॥२०॥

[2]पुष्यर्क्षयोगतश्चन्द्रो वामोपि शुभदोऽभवत् ।
शक्तिश्चेदनुकूला, तत्प्रतिकूलोऽनुकूलति ॥२१॥

पुष्य नक्षत्र के योग से यद्यपि चन्द्रमा वाम हुए, परन्तु शुभदायक ही रहे । यदि शक्ति अनुकूल रहती है तो जो प्रतिकूल भी है वह अनुकूल हो जाता है ॥२१॥

---

१. वरुणस्य २. पुष्यर्क्षं चन्द्रस्य भार्या ।

शुक्रोसौ दक्षिणस्तस्य वामस्थफलदोऽभवत् ।
गुरूणां प्रकृतिः शिष्यहितचिन्तनमेव यत् ॥२२॥

शुक्र ने उसके दक्षिण हो कर भी वामस्थ का ही फल दिया । (अनुकूल ही रहे), क्योंकि शिष्य के कल्याण का चिन्तन करना गुरुओं का स्वभाव है ॥२२॥

गच्छत्तद्बलसंभग्नभूधरानोकहा मही ।
प्रकृतौ न स्थितात्यन्तं चकम्पे चलपत्रवत् ॥२३॥

उस समय पृथ्वी प्रकृतिस्थ (स्थिर) न रह सकी । चलती हुई उसकी सेनाओं के चलते पहाड़, पेड़ सब पीपल के पत्ते के समान डोलने लगे ॥२३॥

ससैन्यो महिषः प्राचीं ययौ स्वल्पैर्दिनैर्दिशम् ।
गत्वामरावतीमिन्द्रं युद्धाय समुपाह्वयत् ॥२४॥

महिषासुर सेनाओं के साथ कुछ ही दिनों में पूर्व दिशा को पार कर (इन्द्र की राजधानी) अमरावती जा कर महिषासुर ने युद्ध के लिए इन्द्र को ललकारा ॥२४॥

श्रुत्वाह्वानं बलारातिः सबलो बलवान् पुरात् ।
वज्रप्रहरणो योद्धुमाययौ रणमूर्धनि ॥२५॥

बलवान इन्द्र उसकी ललकार सुनते ही अपनी सेनाओं के साथ हाथ में वज्र ले कर युद्ध करने के लिए रणक्षेत्र में पहुँच गये ॥२५॥

ताभ्यां युद्धं समारब्धं बलवल्लोमहर्षणम् ।
भयङ्करमसत्त्वानां कदर्यप्राणशोषणम् ॥२६॥

उन दोनों में बलपूर्वक रोमाञ्चकारी युद्ध आरम्भ हो गया, जो बलहीनों के लिए भयंकर और कायरों के लिए प्राण सुखाने वाला था ॥२६॥

चिक्षुर्नामासुरः सार्धं गुहेनायुध्यतायुधैः ।
बिडालोपि गणेशेन जयन्तेन महाहनुः ॥२७॥

चिक्षु नामक दैत्य कार्त्तिकेय जी के साथ, बिडाल नामक गणेश जी के साथ, महाहनु नामक इन्द्र के पुत्र जयन्त के साथ हथियार ले कर भिड़ गये ॥२७॥

अन्यैश्चासुरभूपालैर्बहवः सुरनायकाः ।
यथाबलमयुध्यन्त महिषो वासवेन च ॥२८॥

बहुत से महान् देव लोग और-और महान् सम बल दैत्यों के साथ युद्ध में भिड़ गये और महिषासुर इन्द्र के साथ युद्ध करने लगा ॥२८॥

अग्निप्रभृतयः श्रुत्वा दिगीशाः संगरं महत्।
आययुर्बलसम्पन्ना इन्द्रसाहाय्यहेतवे ॥२९॥

अग्नि आदि बलशाली दिक्पाल लोग महायुद्ध की खबर सुन कर इन्द्र की सहायता के लिए पहुँच गये ॥२९॥

धनुर्बाणगदाखड्गशक्तिकुन्तायुधैः शतम्।
वर्षाणि युयुधुर्देवदैतेया रणदुर्दमाः ॥३०॥

संग्राम से मुँह नहीं मोड़ने वाले देवता और दानव धनुष-बाण, गदा, तलवार, शक्ति, भाला, आदि हथियारों से सौ वर्षों तक युद्ध करते रहे ॥३०॥

चिरोपभुज्यमाना श्रीः सुरेशैरपहाय तान्।
नवीनं बलभूयिष्ठमियेष महिषं पुनः ॥३१॥

बड़े-बड़े देवताओं से जो लक्ष्मी बहुत काल तक उपभुक्त हो चुकी थी, वह उन्हें छोड़ कर अब नवीन बलशाली महिष की ओर झुकी ॥३१॥

जगन्माताऽथवा लक्ष्मीः सौम्यपुत्रगृहे चिरम्।
स्थित्वा क्रूरगृहे कञ्चित् कालं वस्तुं व्यचिन्तयत् ॥३२॥

जगन्माता अथवा लक्ष्मी ने बहुत दिनों तक सदाचारी पुत्र के घर रह कर कुछ दिनों तक क्रूर पुत्र के यहाँ भी रहना चाहा ॥३२॥

यद्वा विलासिनः पुत्रान् निरुद्योगान् गतश्रमान्।
देवानालोक्य शिक्षार्थमियेष मनसा रमा ॥३३॥

अथवा देवताओं को विलासी, निरुद्योगी, आलसी देख कर लक्ष्मी ने सोचा कि उन्हें सबक सिखाने के लिए इसका दण्ड मिलना चाहिए ॥३३॥

अथवेन्द्रादिदेवेषु दत्तपूर्वं महः पुनः।
प्रत्यर्पयितुमेवैतदुपायं सा व्यचिन्तयत् ॥३४॥

अथवा जगदम्बा ने इन्द्रादि देवों को योग्य समझ कर पहले अपना तेज दिया था, किन्तु अब उन्हें अयोग्य समझ कर उस तेज को लौटाने के लिए यह उपाय सोचा ॥३४॥

तदा पराजिता देवा महिषेण दुरात्मना।
इतस्ततो गताः स्वर्गं विहाय सुखधाम तत् ॥३५॥

तब दुष्ट महिषासुर से पराजित देवगण सर्वसुखदायक स्वर्ग धाम को छोड़ कर इधर-उधर भटकने लगे ॥३५॥

कामधेनुर्गृहे येषां कल्पवृक्षा यदालये।
न ते मनोरथं प्रापुर्भाग्यहीनाः सुरेश्वराः ॥३६॥

जिनके घर में कामधेनु और कल्पवृक्ष हों वे देवता लोग भी इस समय भाग्यहीन होने के कारण अपना मनोरथ न पा सके ॥३६॥

तावत्कालं सुखं जन्तोस्तावदेव धनं गृहम् ।
तावदेव कलत्रादि यावद्दैवं हि दक्षिणम् ॥३७॥

प्राणियों को तभी तक सुख, धन, गृह, स्त्री आदि परिवार उपलब्ध रहते हैं जबतक भाग्य अनुकूल है—यह निश्चय जानें ॥३७॥

स्वर्गं लब्ध्वाऽसुरः सोऽथ सर्वर्तुसुखदायकम् ।
विचित्रफलपुष्पाढ्यं नन्दनं समुपाविशत् ॥३८॥

इसके बाद उस महिषासुर ने सभी ऋतुओं में सुखदायक स्वर्ग पा कर तरह-तरह के फल-फूलों से परिपूर्ण नन्दन वन में प्रवेश किया ॥३८॥

नवीनं स्वपतिं दृष्ट्वा नमन्तः कल्पशाखिनः ।
फलपुष्पभरैस्तस्मादुपायनमुपानयन् ॥३९॥

कल्पवृक्ष की सब शाखाओं ने नवीन पति को देख कर विनम्र हो कर फल-फूल के समूह से उसे उपहार दिया ॥३९॥

सुमनोनिलया मत्तद्विरेफा मञ्जुनिस्वनैः ।
तद्यशांसीव गायन्तः स्नेहात्तमुपतस्थिरे ॥४०॥

फूलों पर अपना निवास बनाये हुए मतवाले भौंरों ने मधुर गुञ्जारों से प्रेम पूर्वक उसका यशोगान करते हुए स्वागत किया ॥४०॥

मधुवर्षणमालोक्य तरुभ्योसौ महासुरः ।
मत्वा तान् रुदतो मूढो निजाधीनानदण्डयत् ॥४१॥

मकरन्द की वर्षा करते हुए वृक्षों को देवताओं के वियोग में आँसू बहाते हुए जान कर उस मूढ़ दैत्य ने उन्हें अपने अधीन समझ कर दण्डित किया ॥४१॥

द्विरेफरवमाकर्ण्य पूर्वस्वस्वामिचिन्तनात् ।
रुदतो मन्यमानस्ताँस्तरुभ्यो निरसारयत् ॥४२॥

उस दैत्य ने भौंरों के गुञ्जन को अपने पूर्व स्वामी का चिन्तन कर उनका रुदन समझ कर उनको फूलों के गाछ पर से हटा दिया ॥४२॥

सुरस्वामिवियोगेऽपि पत्रपुष्पविशेषकैः ।
भूषितानां जडानां हि दण्ड एव सुशोभनः ॥४३॥

सुरस्वामी इन्द्र के वियोग होने पर भी अपने को विशेष रूप से फल-फूलों से सुसज्जित करना, यह अज्ञानी का काम है । ऐसे लोगों को दण्ड पाना ही अच्छा है ॥४३॥

प्रमत्तमधुपालापो यदभूत्कर्णकर्कशः ।
दर्दुरध्वनिमत्तानां नानौचित्यं कथञ्चन ॥४४॥

मतवाले भौंरों का मधुर गुञ्जार महिष को कर्णकटु लगा । जो लोग मेढकों की टर्राहट से मतवाले हो जाते हैं, उनके लिए तो उचित ही है ॥४४॥

पञ्चमालापिनो रक्तलोचनान् कलकण्ठिनः ।
क्रुद्धान्मत्वाऽसुरेन्द्रोऽसावुद्यानान्निरवासयत् ॥४५॥

पञ्चम स्वर आलापने वाले, स्वाभाविक आँखों वाले कोकिलों को क्रुद्ध समझ कर उस दैत्य ने उद्यान से भगा दिया ॥४५॥

सुरेन्द्रजयिनं कामो विजेतुं महिषासुरम् ।
इयेष सुमनोबाणैर्मधुमित्रसमन्वितः ॥४६॥

काम ने अपने मित्र वसन्त को साथ ले कर देवराज पर विजय प्राप्त किए महिषासुर को फूलों के बाण से जीतना चाहा ॥४६॥

तदैवासुरगात्रेषु विकचत्पद्मगन्धिना ।
वायुना सेव्यमानेषु प्रस्वेदः समदृश्यत ॥४७॥

उसी समय खिलते हुए कमल की सुगन्धि से मिश्रित हवा लगते रहने पर भी महिषासुर के शरीर से बहुत पसीना निकलने लगा—जिसे सबने देखा ॥४७॥

समाद्रियन्त तेनाथ भृङ्गवन्मधुमक्षिकाः ।
वायसा अपिकायन्त कामाधिष्ठितचेतसा ॥४८॥

अब तो वह (दैत्य) मधुमक्खियों को भी भौंरों के ऐसा आदर देने लगा। कौवे भी कोयल बन गये, क्योंकि महिष कामाकुलचित्त हो रहा था ॥४८॥

आह्वातुं प्रैषयद्दूतान् रम्भाद्यप्सरसां गणान् ।
वडिशैर्मीनवन्तोपि समाकृष्टोप्यनिच्छया ॥४९॥

तब उस (महिष) ने रम्भा आदि अप्सराओं को बुलाने के लिए दूतों को भेजा। अप्सराएँ इच्छा नहीं रहने पर भी, जैसे मछलियों को आदमी वंशी से खींच लेता है, वैसे ही जबरदस्ती पकड़वा कर मँगवा ली गयीं ॥४९॥

रुदता चेतसा चापि मुखेन स्मितशोभिना ।
भयेन सात्त्विकेनेव वेपमाना उपस्थिता ॥५०॥

वे अप्सराएँ, यद्यपि उनका हृदय रो रहा था, मुख पर मुस्कान लिये काँप तो रही थीं भय से, परन्तु जैसे प्रेमवश शरीर में सात्त्विक भाव का उदय हुआ हो, महिष के सामने पहुँचीं ॥५०॥

नीलाञ्जनचयाकारं निपानसदृशश्रुतिम् ।
गिरिगह्वरनासाक्षं दृष्ट्वा बिभ्युः सुराङ्गनाः ॥५१॥

नये स्वर्गेश को अप्सराओं ने देखा तो डर गईं। काजल के समान शरीर, कुएँ के समान गहरे दोनों कान, नाक और घुसी हुई आँखों के बिल पहाड़ की गुफाओं के समान थे ॥५१॥

दैत्येन्द्रसचिवा ऊचुरायातमप्सरोगणम् ।
स्वर्गेन्द्रो महिषो जातः प्रसादयत शोभनाः ॥५२॥

अप्सराओं के झुण्ड को आये हुए देख कर महिषासुर के मन्त्रियों ने उन्हें कहा—'अब महिषासुर महाराज स्वर्ग के राजा हो गये। अतः हे सुन्दरियो ! इन्हें तुम लोग खुश करो' ॥५२॥

सचिवोक्तं वचः श्रुत्वा जगादाप्सरसां गणः ।
सस्मितं वक्रनेत्राभ्यां वीक्षमाणः परस्परम् ॥५३॥

अप्सराएँ मन्त्रियों के कहे हुए वचन को सुन कर मुस्कराती हुई और टेढ़ी आँखों से (कटाक्ष से) आपस में देखती हुई बोलीं—॥५३॥

न गुणेषु न सौन्दर्ये न बले न च पौरुषे ।
न बन्धुषु न विद्यासु न कुलेऽभिरुचिर्हि नः ॥५४॥

'हम लोगों की रुचि न तो गुण में, न सुन्दरता में, न बल में, न पुरुषार्थ में, न परिवार में, न विद्या में और न उत्तम कुल में ही रहती है ॥५४॥

कुरूपं वा सुरूपं नीरुजं वाऽथ रोगिणम् ।
निर्गुणं गुणिनं वापि भजामो धनवत्तरम् ॥५५॥

'आदमी चाहे कुरूप हो या सुरूप, चाहे निरोग हो या रोगी, निर्गुण हो या गुणवान्, केवल धनवान को ही हमलोग पसन्द करती हैं ॥५५॥

धनमेव पितास्माकं जननी धनमेव च ।
धनं भ्राता पतिः पुत्रः सर्वं धनमयं जगत् ॥५६॥

'हमलोगों की धन ही माता है, धन ही पिता है, धन ही भाई है, धन ही पति है और धन ही पुत्र है। हम लोगों का संसार मात्र धन का ही बना हुआ है ॥५६॥

त्रिलोकीजयसम्प्राप्तधनपूर्णं बलान्वितम् ।
महिषं स्वामिनं प्राप्य वयं मोदामहे भृशम् ॥५७॥

'(अतः) तीनों लोकों में विजय प्राप्त करने के कारण अमित धन प्राप्त किये हुए, बलवान् महिष महाराज को पति पा कर हमलोग बहुत प्रसन्न हो रही हैं' ॥५७॥

स्वभावाद्धीरप्रज्ञानां निशम्याप्सरसां वचः ।
गातुञ्च नर्तितुं दैत्या अनुयज्ञुर्मुदान्विताः ॥५८॥

स्वभाव से ही गम्भीर बुद्धिवाली अप्सराओं के वचन सुन कर दैत्यों ने बड़ी प्रसन्नता के साथ उन्हें नाचने-गाने की आज्ञा दे दी ॥५८॥

प्रसाद्य महिषं सर्वा नृत्यगीतादिभिर्मुहुः ।
अनुज्ञाताश्च तेनाऽथ स्वधामानि ययुर्मुदा ।।५९।।

बाद सभी अप्सराएँ नाच-गानों से महिषासुर को बार-बार प्रसन्न करके और उससे आज्ञा ले कर प्रसन्नतापूर्वक अपने-अपने स्थान चली गईं ।।५९।।

दुरात्मासौ प्रसन्नात्मा विदित्वात्मानमात्मना ।
महात्मानं विमूढात्मा वुबुधे न दिवानिशम् ।।६०।।

महामूर्ख दुरात्मा महिष ने प्रसन्न हो कर खुद अपने को महात्मा समझ दिन-रात का कुछ भी ख्याल नहीं किया ।।६०।।

इतस्ततः सुरान् दृष्ट्वा भीतानपि बलादसौ ।
अदण्डयच्च तैः सेवामकारयत मन्दधीः ।।६१।।

मन्दबुद्धि वह महिष भीत और इधर-उधर भटकते हुए देवताओं को कहीं देख कर बलात् उन्हें दण्डित करता था और उनसे सेवा करवाता था ।।६१।।

सकलभुवनमूलं सर्वदा सर्वदात्री
प्रकृतिरतिविषण्णा प्रेक्ष्य दुर्नीतिमस्य ।
अभवदननुकूला शाठ्यदुश्चेतसस्त-
न्मतिविकृतिरभूद्या मार्गदष्ट्रीह जन्तोः ।।६२।।

समस्त संसार के कारण, बराबर सबको सब कुछ देनेवाली, प्रकृति (आद्या शक्ति) उस महिष की दुर्नीति देख कर अत्यन्त विषण्ण हो गई और शठता के कारण बुरे कर्म करने वालों के प्रतिकूल हो गई। इससे उसकी बुद्धि में विकृति आ गई, जो कुमार्ग में ढकेल देती है ।।६२।।

इति श्रीदेवीचरिते महाकाव्ये महिषस्वर्गाक्रमणं तज्जयो नाम तृतीयः सर्गः ।

'श्रीदेवीचरित महाकाव्य' में महिषासुर द्वारा स्वर्ग पर आक्रमण तथा उस पर विजय प्राप्ति नामक तृतीय सर्ग समाप्त ।

चतुर्थः सर्गः

देवास्ततो दैत्यवरेण तापिताः शक्रप्रधाना महिषेण दुर्हृदा ।
खिन्नान्तरङ्गा निजरक्षणाकुला जग्मुः स्वयंभूसदनं समन्विताः ॥१॥

दुष्टहृदय दैत्यराज महिषासुर से सताए जाने पर तप्त और खिन्नहृदय देवता लोग अपनी रक्षा के लिए सम्मिलित हो कर ब्रह्मलोक गये ॥१॥

ध्यानस्थितं पद्मभवं प्रजापतिं समीक्ष्य ते नैव मुदं प्रपेदिरे ।
क्वासौ गभीराशय ईदृशोऽत्र य आत्मार्थसिद्धौ सहते विलम्बनम् ॥२॥

प्रजापति कमलोद्भव को ध्यान में बैठे हुए देख कर वे लोग प्रसन्न नहीं हुए । गम्भीर अन्तःकरण वाले ब्रह्मा, जो आत्मसिद्धि में लगे हुए हैं, हम लोगों की विडम्बना में कहाँ पड़ेंगे ॥२॥

तेषामुपस्थानसमक्षणादसौ वेधाः समाधेर्विरतस्ततोऽभवत् ।
औचित्यवृत्तेः कदनं महात्मनामाकर्षतीह प्रसभं मनो यतः ॥३॥

उन्हें वहाँ पहुँचते ही विधाता समाधि से विरत हो गये; क्योंकि जिसका कार्य उचित कामों के लिए संकल्पित रहता है, उसके मन को महात्माओं का कष्ट बलात् खींच लेता है ॥३॥

सार्धं समेतान् विबुधान् बुधाग्रणीर्वेधा विवर्णाजनकानवेक्ष्य तान् ।
पुत्राः ! किमर्थं समुपागता इति खिन्ना इव स्थेति च पृष्टवानसौ ॥४॥

देवताओं में अग्रगण्य विधाता ने एक साथ आए हुए विषण्णमुख उन देवताओं को देख कर पूछा—'हे पुत्रो ! क्यों आए हो ? और इस प्रकार खिन्न क्यों हो' ?॥४॥

जिज्ञासते किं भगवन्नबोधवज्जानाति खेदं सकलं भवान् हि नः ।
चेत्तत्त्वविद्वा कदनं कथं भवेत्सुशेरते जाग्रति रक्षके प्रजाः ॥५॥

देवताओं ने कहा—'भगवन् ! आप सब जानते हुए भी अजान के ऐसा क्यों पूछते हैं ? आप तो हमलोगों के सारे कष्ट को जान ही रहे हैं । रक्षक के जागृत रहने पर प्रजा लोग निश्चिन्त हो कर सो जाते हैं ॥५॥

वैवर्ण्यहेतुं महिषं विवक्षतां चक्षूंष्यभूवन्नभसो नभांस्यलम् ।
वेधः समक्षं च विलज्जिता सती रुद्धान्तराले द्युसदां सरस्वती ॥६॥

उदासीनता का कारण महिषासुर को बताते हुए देवताओं के नेत्र सावन के आकाश बन गये और मालूम पड़ता था कि ब्रह्मा के समक्ष लज्जित हो रही वाणी उनके मुख से नहीं निकली (कण्ठ ही के भीतर रुकी रही) ॥६॥

मा पुत्रकाः संदुनुतेत्यसौ वदन् शोकं जहीतेति च पद्मसम्भवः।
धैर्यं समालम्बत चेति कोमलैर्देवान् वचोभिः समसान्त्वयद् भृशम् ॥७॥

विधाता ने उन देवताओं को कोमल वचनों से सान्त्वना दी और कहा—'पुत्रो! अत्यन्त दुःखी मत हो; शोक को मार डालो और धैर्य्य धारण करो' ॥७॥

देवाः समासाद्य यथाकथञ्चन धैर्यं यथावज्जगदुः स्वयम्भुवम्।
श्रुत्वा ततः खिन्नमना विधिः समं तैरीशकृष्णान्तिकमाययौ द्रुतम् ॥८॥

देवगण किसी प्रकार धैर्य धारण कर ब्रह्माजी से बोले—'जो आप कह रहे हैं, वही करेंगे।' उनकी वैसी बोली सुन कर खिन्नहृदय विधाता उनके साथ ही भगवान् कृष्ण के पास शीघ्र ही पहुँच गये ॥८॥

वज्रेन्द्रनीलप्रभमद्वयं द्वयं दृष्ट्वा सुराः पन्नगरत्नभूषणम्।
बालेन्दुकाश्मीरलसल्ललाटकं स्तुत्वाऽब्रुवंस्ते हरिदम्बरं महः ॥९॥

देवताओं ने हीरा और नीलम के समान कान्ति वाले, साँप और रत्नों की माला धारण करने वाले, बाल चन्द्रमा और केशर के तिलक से सुशोभित ललाट वाले, दिगम्बर और पीताम्बर अद्वितीय दो तेजों को देख कर स्तुति कर बोले—॥९॥

त्रातां भवन्तौ महिषप्रतापितानावासहीनानटतश्चतुर्दिशम्।
न क्वापि संस्थानमवाप्नुतश्च वा त्राणं स्वपादाब्जजुषो दिवौकसः ॥१०॥

'महिषासुर से प्रतापित, स्थानहीन, चारों ओर भटकने वाले, कहीं भी स्थान नहीं पाने से आप दोनों की शरण को ही आश्रय जान कर पहुँचे हुए हम लोगों की रक्षा करें ॥१०॥

यो देवराजत्वमवाप्य यज्ञजं यज्ञप्रियावीशहरी ! स्म मोदते।
सम्प्रत्यहो त्यक्तनिजास्पदो दिवा शेते गिरेर्गह्वर एष कौशिकः ॥११॥

'हे यज्ञप्रिय शङ्करजी तथा भगवान् विष्णु ! जो इन्द्र यज्ञ के द्वारा देवराजत्व पद पा कर प्रमोदित रहते थे, (ओह !) वही इन्द्र इस समय अपना स्थान छोड़ कर दिन में पहाड़ की गुफा में छिप कर सोते हैं ॥११॥

दृष्ट्वा विपक्षं महिषं तुरङ्गमा सूर्यस्य रथ्या नु पलायनोद्यताः।
यानं विहायेति ससाध्वसोप्यसावन्यत्र वासं विदधाति साम्प्रतम् ॥१२॥

'महिषासुर को विपक्ष देख कर सूर्य के रथ के घोड़े जान पड़ता है जैसे भाग गये हैं। इस कारण सूर्य सवारी को छोड़ कर इस समय कहीं और ही जगह रह रहे हैं ॥१२॥

ऋत्विक्प्रदत्तं घृतशर्कराप्लुतं हव्यं मुखे नो ज्वलनः समाददत् ।
प्रीतो जगन्मङ्गलहेतवेऽभवत् सोयं प्रभू ! क्लिश्यति सम्पराजितः ॥१३॥

'हे प्रभुओ । अग्नि देव भी उससे पराजित हो कर होताओं के दिये हुए घी-शक्कर से गीले हविष्य को मुँह में नहीं देते । इस कारण वे जगत् का कल्याण नहीं कर रहे हैं, क्योंकि वे कष्ट में हैं ॥१३॥

पापात्मनः शासितुमार्यमः पुरा लोकाननेकान् विरचय्य कष्टदान् ।
सम्पात्य ताँस्तत्र बलादसौ भवतस्तवोन्मुखान् संविदधेऽपकल्मषान् ॥१४॥

'धर्मराज पहले पापियों को कष्ट देने के लिए अनेक कष्टदायक लोकों का निर्माण करा कर और उनमें उन पापियों को ढकेल कर पापहीन और आप लोगों की स्तुति करने के लिए उत्सुक बना देते थे ॥१४॥

सोयं महापापपरैः परैर्भृशं सन्तापितो दैत्यगणैर्निराकृतः ।
तद्यातनावासगृहाणि तानि च धर्मात्मनामाश्रयणानि साम्प्रतम् ॥१५॥

'वह धर्मराज इस समय पापपरायण दैत्यों से अत्यन्त सताये जा रहे हैं और अपने पद से हटाये गये हैं और वही यातनागृह इस समय महात्माओं के आश्रयगृह हो रहे हैं ॥१५॥

यज्ञानलोद्दीपनपूतचेतसस्तद्धूमसौरभ्यभरातिमन्दगः ।
वायुर्वनप्रान्तविहारशीतलो मोदं पुराऽदत्त सुखान्तरात्मनाम् ॥१६॥

यज्ञादि के उद्दीप्त करने से जिस वायुदेव का हृदय पवित्र बना रहता था और यज्ञ के धूम के भार से मन्द, सुगन्धित तथा उस तपोवन में विचरण करने से शीतल वह (वायुदेव) पहले सुखी हृदयों को आनन्दित किया करते थे ॥१६॥

सम्प्रत्यसौ दानवधूमवर्तिकापानोग्रदौर्गन्ध्यविषण्णतां गतः ।
भीतस्तदिच्छानुगुणं विचेष्टते खिन्नः स्वयं मोदयते न मानसम् ॥१७॥

'वही वायुदेव इस समय दानवों के सिगरेट-पान के धूएँ के उग्र गन्ध से विषण्ण हो गये हैं तथा डर से उनकी इच्छानुसार काम करते हैं और अपने खिन्न मन को प्रमोदित नहीं कर पाते ॥१७॥

पाशी वदान्यार्पितवारिराशिना जन्मात्मनोत्यर्थममन्यताऽसमम् ।
आत्ताधिकारो भ्रमतीह मर्त्यवत्कालोऽनुकूलो न नु वर्ततेऽधुना ॥१८॥

जो जलेश (वरुणदेव) दान के समय दानियों के हाथ में दिये हुए जल से अपने जन्म को अत्यन्त सफल मानते थे, वही वरुण इस समय अधिकार छिन

जाने के कारण मनुष्य के समान इधर-उधर घूम रहे हैं। मालूम पड़ता है कि इस समय समय अनुकूल नहीं है ॥१८॥

कैलासवासिन् भवतः सखाप्यसौ वित्तेश्वरो वित्तपतित्वमाप्तवान् ।
निष्कासितः स्वाधिकृतेर्बलादहो भाग्यं परं नैव बलं धनादिकम् ॥१९॥

हे कैलासवासी शिवजी! यद्यपि कुबेर आप के मित्र भी हैं, धन के स्वामी हैं, धनपति होने का अधिकार भी प्राप्त कर चुके हैं, परन्तु वे बलात् अपने अधिकार से हटा दिये गये हैं। भाग्य ही प्रधान है, न कि बल, धन आदि ॥१९॥

दिक्पालकानां यदियं दशा ततः केन्ये सुरास्तद्गणना च का प्रभू ।
ज्ञात्वेति सारं द्रुतमेव रक्षणोपायं विधत्तं निजपादसेविनाम् ॥२०॥

'हे प्रभुओ! जब दिक्पालों की यह दशा है तो और देवताओं की क्या गणना? बस, यही सार समझ कर अपने चरणसेवक देवताओं की रक्षा का उपाय शीघ्र कीजिए' ॥२०॥

श्रुत्वा गिरस्ता हरिशङ्करावति क्रोधाभिभूतौ चलरक्तलोचनौ ।
धूताङ्गयष्टी स्फुरिताधरावथो हुं चक्रतुर्दत्तसमस्तशक्तिकम् ॥२१॥

भगवान् विष्णु और श्री शङ्करजी उन वचनों को सुन कर क्रोधाभिभूत हो गये। उनकी आँखें लाल हो गयीं। सारा शरीर और विशेषकर ओठ काँपने लगे। इसके बाद सारी शक्ति लगा कर 'हुं' कहा ॥२१॥

सार्धं ततो हुं ध्वनिना महेश्वराच्चक्रायुधाच्च प्रबभूव दीप्तिमत् ।
ज्योतिः सुराणामपि सोथ तेजसां व्यूहः समापूरितवान् दिशो दश ॥२२॥

'हुं' शब्द के साथ ही शिवजी, विष्णु तथा सभी देवताओं के शरीर से ऐसा चमकीला तेज समूह प्रकट हुआ जो दशों दिशाओं में भर गया ॥२२॥

दवाः स्वदेहोद्भवतेजसां चये तस्मिन् ज्वलद्भूधरश्रृङ्गसन्निभे ।
जाग्रत्सरोजश्रियमावहन्मुखमालोकयाञ्चक्रुरतीव, विस्मिताः ॥२३॥

देवता लोग अपने शरीर से प्रकट हुई प्रज्वलित पहाड़ की चोटी के समान तेजोराशि में विकसित होते हुए कमल की शोभा धारण किये हुए मुख देख कर अत्यन्त आश्चर्यान्वित हो गये ॥२३॥

भूयोऽङ्गयष्टिर्दशबाहुभूषिता बालार्ककान्तिर्जलजेक्षणानना ।
दृष्टोन्नतोरोजयुगा मनोहरासर्वामरैस्तत्र निजार्चिषां चये ॥२४॥

उसी अपने तेजोमण्डल के बीच देवताओं ने दश भुजाओं से सुशोभित बाल-सूर्य के समान कान्तिवाली नारी को देखा जिसकी आँखें और मुँह कमल के समान तथा उन्नत उरोज मनोहर थे ॥२४॥

सद्भाग्यवत्त्वप्रतिपादकं कथं स्यात्कोमलं पादतलं तथारुणम् ।
चेत्तेजसा तच्चरणौ रजस्तनोः स्यातां विधेर्नो मृदुचेतसः शुभौ ॥२५॥

यदि उस नारी के दोनों चरण विधाता के तेज से नहीं तैयार होते तो उनके वैसे कोमल एवं लाल (रजोगुणी) तलवे सद्भाग्यवत्त्व सूचक कैसे होते तथा उनका हृदय भी कोमल कैसे होता ? (ब्रह्माजी के कमलोद्भव होने के कारण ही जगदम्बा के चरण और हृदय कोमल थे।) ॥२५॥

ध्यातुः स्वभक्तस्य हृदिस्थसन्तमो दूरं कथं यास्यति चेन्न तन्नखाः ।
त्विड्राशिना भास्करसम्भवेन तत्पादाग्रजातद्युतयस्तथा इमे ॥२६॥

यदि उसके चरणों के नख सूर्य के तेज से नहीं तैयार होते, तो ध्यान करने वाले भक्तों के हृदय का अति गहन अन्धकार कैसे दूर होता ? उसके चरण-नख सूर्य के तेज से बनने के कारण सूर्यवत् चमकीले थे ।।२६।।

भूतेजसा यच्च नितम्बमण्डलं जातं तदीयं पृथुलं ततोऽभवत् ।
एकत्र भूश्चेदपरत्र वारि यत्पाश्र्यर्चिषा तज्जघनं यथोचितम् ॥२७॥

उसका नितम्बमण्डल जो उतना विशाल था, वह पृथ्वी के तेज से उत्पन्न होने के कारण था। नितम्ब के नीचे का भाग यदि वरुण के अंश से नहीं बनता, तो एक ओर झुका और दूसरी ओर जल का कोषयुक्त कैसे रहता ?॥२७

सम्पादनाद् यज्ञशतस्य वज्रिणः क्षीणाकृतेस्त्विट्प्रकरेण तत्कटिः ।
जाता ततः क्षीणतमातिशोभना सारान्विता मन्मथभाविकाऽभवत् ॥२८

उसकी कमर यदि सौ यज्ञ करते-करते क्षीणकाय इन्द्र के तेज से न बनती, तो अत्यन्त क्षीण, सुदृढ़ और काम जनक कैसे होती ? ॥२८॥

क्षीरामृतास्वादननिर्जरामरान् पुत्रान् विधातुं जगदम्बिका निजान् ।
वक्षोजयुग्मं विदधे सुवर्तुलं चन्द्रार्चिषा चन्द्रकरामलच्छवि ॥२९॥

जगदम्बिका ने अपने दोनों स्तनों को गोल एवं चन्द्रमा के तेज से चन्द्रमा के समान गौरवर्ण इसलिए बनाया कि वे दूधरूप अमृत-स्वाद के अनुभवी अपने पुत्र देवताओं को बुढ़ापे और मृत्यु से रहित बना सकें ॥२९॥

दैत्यारितेजस्ततिजास्तदीयका दोषोऽसुरान् हन्तुमलं न चान्यथा ।
विश्वम्भरस्यैव च सत्त्वसम्भवा विश्वम्भरे योग्यतमाक्षमा भुजाः ॥३०॥

श्री विष्णु भगवान् के पूर्ण तेज से यदि माता की भुजाएँ नहीं तैयार होतीं, तो दैत्यों को मारने की शक्ति और किसमें थी ? विश्व के धारण और पोषण करने वाले के तेज से बनी हुई भुजाएँ ही विश्व के धारण और पोषण में समर्थ हो सकती हैं ॥३०॥

यच्छम्भुतेजोवलयेन तन्मुखं जातं बृहद्भालतलेक्षणाञ्चितम् ।
भ्रूभङ्गमात्रेण जगल्लयङ्करं भक्तेष्टदानस्फुरदोष्ठमञ्जुलम् ॥३१॥

यदि उनका मुख शिवजी के तेज से नहीं बना हुआ होता, तो विस्तृत ललाट में नेत्र और भ्रूभंग मात्र से ही प्रलय करने की क्षमता तथा भक्तों का अभीष्ट फल देने के लिए फड़कता हुआ ओठ कैसे इतना सुन्दर होता ? ॥३१॥

नासा तदीया धनदार्चिषाऽभवद्दन्ताश्च प्राजापततेजसा तथा ।
नेत्रद्रयं वह्निमयेन रोचिषा कर्णावभूतामनिलस्य वर्चसा ॥३२॥

उनकी नाक कुबेर के तेज से, दाँत प्रजापति के तेज से, दोनों आँखें अग्नि के तेज से, दोनों कान वायु के तेज से बने ॥३२॥

तन्नासिका यद्धनदार्चिपाऽभवत्सद्रत्नरम्याभिमुखागतेष्टदा ।
चक्षुर्द्वयं चेदनलस्य तेजसा न स्यात्तदा दुष्टविनाशकृत्कथम् ॥३३॥

उनकी नाक कुबेर के तेज से बनी, इसी से अच्छे-अच्छे रत्नों से सुशोभित और उसके सम्मुख आये हुए लोगों को मनमानी वस्तुएँ देनेवाली हैं । यदि दोनों आँखें अग्नि के तेज से नहीं होतीं, तो दुष्टों के ऊपर दृष्टि पड़ते ही उनका विनाश कैसे होता ? ॥३३॥

श्रुतिद्वयं यत्पवनस्य रोचिषा बभूव तेनैव जगत्स्तुतिः श्रुतिः ।
क्षणाद् भवत्येव यतः सदागतिः सदैव सर्वत्र हि वर्तते शुभः ॥३४॥

उनके दोनों कान वायु के तेज से बने हुए होने के कारण ही संसार की स्तुति सुन कर वह क्षणमात्र में अच्छी गति देनेवाले तथा सर्वत्र सदैव शुभदायक हो जाते हैं ॥३४॥

यत्कारणे सन्ति गुणास्त एव हि कार्येषु दृश्यन्त इतीह निश्चयः ।
कृष्णान्तकोद्भूतकरालतेजसां स्तोमेन केशा अभवँस्तदीयकाः ॥३५॥

जो गुण कारण में रहते हैं, वे कार्य में भी दीख पड़ते हैं—यही सिद्धान्त हैं । जगदम्बिका के केश काले रंग के यमराज के तेज से उत्पन्न हुए, इसीलिए वे सघन काले हैं ॥३५॥

अङ्गानि जातान्यपराणि रोचिषा सर्वामराणां निवहैर्मनोरमैः ।
तेजोमयीं तामवलोक्य विस्मितास्तुष्टा बभूवुश्च निजेप्सितप्रदाम् ॥३६॥

और सभी अङ्ग सभी देवताओं के सुन्दर तेज-समूह से हुए । देवता लोग तेजोमयी उस नारी को अपनी अभीष्टफलदायिनी देख कर आश्चर्ययुक्त और प्रसन्न हो गये ॥३६॥

तस्यै ददौ शूलधरः स्वशूलतः शूलं समाकृष्य खलान्तहेतवे ।
चक्रं तथा चक्रधरश्च पाशधृक्छङ्खं जयस्य प्रतिसूचनाप्रदम् ॥३७॥

(इसके बाद) शिवजी ने दुष्टों का नाश करने के लिए अपने त्रिशूल से त्रिशूल निकाल कर देवी जी को दे दिया। चक्रधारी विष्णु भगवान् ने चक्र और वरुण ने विजय सूचक शङ्ख दिया ॥३७॥

शक्त्यस्त्रमग्निः पवनश्शरासनं बाणाञ्चितं बाणधरद्वयं तया ।
घण्टां गजाद्वज्रधरोऽमरेश्वरो वज्रात्समाकृष्य पविं ज्वलत्प्रभम् ॥३८॥

अग्नि ने शक्त्यस्त्र, वायु ने धनुष-बाण तथा दो तरकस, इन्द्र ने अपने हाथी वाला घण्टा और चमकीले वज्र दिये ॥३८॥

कार्ष्णायसात्स्वायुधदण्डतोऽन्तको दण्डं समाक्षिप्य करालदर्शनम् ।
पाशं तथा पाशधरः स्वपाशतो रम्याक्षमालाञ्च प्रजापतिर्ददौ ॥३९॥

यमराज ने अपने काले लोहे के दण्ड से निकाल कर देखने में भयंकर दण्ड तथा वरुण ने पाशास्त्र दिये और प्रजापति ने सुन्दर स्फटिक की माला दी ॥३९॥

जाता जगत्पावनकारिणी यतो मन्दाकिनी तं च कमण्डलुं विधिः ।
दीप्तान् स्वरश्मीनरिदुर्निरीक्ष्यकाँस्तद्रोमकूपेषु दिनेश्वरो ददौ ॥४०॥

जिस कमण्डलु से जगत् को पवित्र करने वाली गङ्गाजी निकली हैं, ब्रह्माजी ने वह कमण्डलु दे दी। अत्यन्त प्रकाशमान, जिन्हें देखते ही शत्रुओं की आँखें तिलमिला जायें, ऐसी किरणों को सूर्य ने देवी जी के रोमकूपों में भर दिया ॥४०॥

भूयोन्तकः खड्गमतीव भीषणं चर्माद्भुतं शत्रुप्रहारवारणम् ।
मुक्तावलीं क्षीरनिधिर्मनोरमां वासोद्वयं भानुकरामलप्रभम् ॥४१॥

यमराज ने फिर भी अत्यन्त भयंकर तलवार और शत्रुओं के किये प्रहार को रोकने वाली विचित्र ढाल दी। समुद्र ने सुन्दर मोतियों की माला और सूर्य के समान चमकने हुए दो कपड़े दिये ॥४१॥

चूड़ामणिं भास्वररत्नभूषितं रत्नाकरो कुण्डलयुग्मकं तथा ।
दिव्यञ्च हस्ताभरणं सुबाहुषु केयूरकाँश्चार्धनिशाकरप्रभम् ॥४२॥

(समुद्र की सेवा इतनी ही नहीं रही।) उसने चमकीले रत्नों से सुशोभित शिरोभूषण, कानों में दो कुण्डल, चमकीले हाथ के गहने, बाहुओं के गहने तथा सुन्दर अर्द्धचन्दमा दिये, जो ललाट में सुशोभित हुए ॥४२॥

सद्रत्नवन्तौ कलहंसनिस्वनौ पादद्वये मञ्जुलनूपुरौ तथा ।
ग्रैवेयकं मञ्जुमणिप्रगुम्फितं भव्याङ्गुलीयानि तथाङ्गुलीषु च ॥४३॥

अच्छे-अच्छे चमकीले रत्नों से गुम्फित, हंस के मधुर शब्द के समान शब्द करने वाले दो पायलों से दोनों पैरों को सुसज्जित कर दिया। चमकीले रत्नों से बने हुए गले का भूषण भी दिया। फिर सुन्दर अँगुलियों में अँगूठियाँ भी डाल दीं ॥४३॥

जाज्वल्यमानः परशुर्ददे पुनर्दैत्यान् विहन्तुं खलु विश्वकर्मणा ।
कर्तुं स्वनामान्वितमेव वैरिषु शीघ्रं प्रभावं स च दर्शयिष्यति ॥४४॥

विश्वकर्मा ने दैत्यों को नष्ट करने के लिए खूब चमकीला फलसा (फरसा) दिया जो शीघ्र ही शत्रुओं पर अपने नाम को सार्थक करेगा और अपना प्रभाव दिखलायेगा। ('फलसा' का शब्दार्थ है शत्रुओं का संहार करने वाला।) ॥४४॥

भूयोप्यसौ शत्रुविनाशहेतवे शस्त्रास्त्रमुग्रं स्वकृतं ज्वलत्प्रभम् ।
भेद्यं तथा छेद्यमथो विघातकं सन्दंशनं लोकहिताय दत्तवान् ॥४५॥

विश्वकर्मा ने लोक-कल्याण के लिए एवं शत्रुओं के विनाश के लिए अपने बनाये हुए और भी बहुत प्रकार के भयंकर अस्त्र-शस्त्र दिये, जिनसे शरीर को फाड़ दिया जा सके, टुकड़े-टुकड़े किया जा सके, एक झटके में भूमि पर सुला दिया जा सके, सँड़सी के ऐसा बना हुआ जिससे गला दबा दिया जा सके ॥४५॥

अम्लानपद्मग्रथितां मनोहरां मालां पयोधिर्हृदये च मस्तके ।
पाणौ तथा पङ्कजमेकमुज्ज्वलं विश्वं वशीकर्तुमलं वितीर्णवान् ॥४६॥

समुद्र ने जलाशय होने के नाते दो ऐसी कमलों की माला दी जिनके फूल कभी मुर्झायें नहीं—एक सिर की और दूसरी गले से लेकर पैर तक की शोभा बढ़ा सके। हाथ में एक बड़ा कमल का फूल दिया जिसमें संसार को मोहने की शक्ति थी ॥४६॥

तद्वाहनार्हं विकरालदंष्ट्रिका भूयिष्ठमत्यन्तभयङ्करााननम् ।
सिंहं हिमाद्रिर्व्यतरन्महानखं रत्नान्यनेकानि निजोद्भवानि च ॥४७॥

हिमालय ने सवारी के लिए एक सिंह दिया जिसका खुला हुआ मुख टेढ़े-टेढ़े चमकीले दाँतों से और भी अधिक भयंकर हो रहा था और जिसके नुकीले नख शत्रुओं पर प्रहार करने में पटु थे। उन्होंने और भी बहुत से रत्न दिये जो हिमालय ही पर पैदा हुए थे ॥४७॥

यत्पानमत्ता निहनिष्यति ध्रुवं दैत्याननेकान् सुरशातनान् भृशाम्।
सुमद्यपूर्णञ्च धनाधिपो ददौ सौवर्णपात्रं शुचिरत्नभूषितम् ॥४८॥

चण्डिका जिसको पी कर अधिक उत्तेजित हो जायें और देवताओं के अत्यन्त सतानेवाले असुरों को निश्चय ही मार डालें, ऐसी अंगूरी रत्नजड़ित सोने के प्याले में कुबेर ने अर्पण की ।।४८।।

रत्नप्रभाभूषितसत्फणावलीभ्राजिष्णुमाल्यं धरणीधरोऽददात् ।
अन्येपि देवा बहुधायुधावलीस्तस्यै ददौ भूषणमुद्गकं तथा ॥४९॥

अन्य पहाड़ों ने मिल कर इनके गले में रत्नप्रभा से चमत्कृत और फूत्कार से भयंकर साँप की एक माला गले में डाल दी । अन्य देवताओं ने भी विविध प्रकार के आयुधों से भरा एक सन्दूक दिया जो समय पर काम आये ।।४९।।

या विश्वरूपा जगतामधीश्वरी तस्यै वरास्त्रादिचयार्पणेन किम् ।
लीलातनुर्यद् यदसौ दधावथ येभ्यस्तदस्यै व्यतरन् सुराधिपाः ॥५०॥

देवतागण पहले यह सोच कर मौन थे कि जो जगदम्बिका जगत् की अधिष्ठात्री हैं, उनको अच्छे-अच्छे शस्त्रास्त्रों के अर्पण से क्या होगा ? वह तो संसार को एक नाटक दिखलाने के लिए शरीर धारण करती हैं । हमलोगों को उन्हीं से जो मिले हैं, फिर क्यों नहीं उन्हें समर्पण कर दें ।।५०।।

सकलसुरवरार्चिजातदिव्याङ्गयष्टिर्विविधप्रहरणौघैर्भूषणैः सत्कृता च ।
मधुनिषवणलोला रक्तनेत्रद्वयाभा सह निजहरिणासौ चण्डिका सञ्जगर्ज॥५१॥

जिस जगदम्बा का शरीर सभी देवताओं के दिव्य तेज से तैयार हुआ है और जिसका विविध आयुधों तथा भूषणों से सम्मान किया गया है, जिनकी दोनों आँखें मद्य सेवन से लाल हो रही हैं, वह चण्डिका अपने वाहन सिंह के साथ ही जोरों से गरजने लगीं ।।५१।।

तस्या नादविपाटितेव वसुधानुध्वानयुक्ता क्षणा-
न्नृत्यन्तीव विलोकिता गिरिवरा भग्नोरुशृङ्गास्तथा ।
वृक्षाणामथ सद्मनां खलु कथा का मूलतो भ्रांसिनां
त्रैलोक्यं सचराचरं विकलितं जातं महाक्षोभितम् ॥५२॥

उनके गर्जन से क्षण मात्र में पृथ्वी ऐसी हो उठी, जैसे फट जायगी और सभी दिशाओं से प्रतिध्वनि निकलने लगी । पहाड़ नृत्य करते-से दीख पड़ने लगे । उनके शिखर टूट-टूट कर गिरने लगे । जब इनकी यह दशा हुई तो पेड़ों और महलों की क्या बात ? वे तो जड़ से उखड़-उखड़ कर फेंक दिये गये । चर-अचर, तीनों लोक क्षुब्ध और व्याकुल हो उठे ।।५२।।

इति प्रलयमिवावलोक्य देवाः सह मुनिभिर्भुवनं भयाकुलञ्च ।
अतिशयकुपितां जगन्नियन्त्रीं प्रशमयितुं परितुष्टुवुर्नमस्याम् ।।५३।।

(इसके बाद) देवताओं ने प्रलय-जैसा दृश्य तथा समस्त भूमण्डल को व्याकुल तथा जगत् को स्थिर रखने वाली जगदम्बा को अत्यन्तक्रोधाकुल देख कर प्रणामयोग्य उनकी स्तुति करना आरंभ कर दिया ।।५३।।

इति श्री देवीचरिते महाकाव्ये महिषमर्दिनीप्रादुर्भावो नाम चतुर्थः सर्गः ।

'श्रीदेवीचरित महाकाव्य' में महिषमर्दिनी का प्रादुर्भाव नामक चतुर्थ सर्ग समाप्त ।

पञ्चमः सर्गः

आकर्ण्याखिलदनुजाधिपः सभायामासीनः सह सचिवैर्नयप्रगल्भैः ।
ध्वानं तं वधिरितसर्वदिग्विभागमूचेऽसाविति महिषो महाप्रभावः ॥१॥

महाप्रभावशाली महिष नामका दैत्यराज नीति में अधिकार रखने वाले मन्त्रियों के साथ सभा में बैठा हुआ था। उसी समय सभी दिशाओं को बहरा बनाने वाले शब्द को सुन कर वह बोला—॥१॥

विज्ञायापि सकललोकशासकं मां वीर्यैः स्वैर्विजितनरामरासुरेन्द्रम् ।
को व्यालं शिरसि समागतं गतासुर्नात्मज्ञः प्रतियततेऽत्र जागरीतुम् ॥२॥

'वह कौन है, जो मुझे सभी लोकों के एकमात्र शासक, अपने बल से मनुष्य, देवता और देवेन्द्र तक को जीते हुए जान कर भी अपने सिर पर चढ़े हुए साँप को उत्तेजित करने के लिए प्रयत्न कर रहा है ? ॥२॥

स्वध्वानैः प्रशमितसर्वगर्जनस्य त्रासात्त्याजितनिजवासजन्मभूमेः ।
न ज्ञात्वा बलमधिकं मृगाधिपस्योद्धर्त्तुं कोभिलषत्यसौ प्रसह्य दंष्ट्राम् ॥३॥

'वह कौन है जो ऐसे सिंह, जिसने अपने गर्जन से सभी गर्जनों को दवा दिया है, जिसके डर से सब लोग अपने-अपने जन्म-स्थान को छोड़ कर भाग खड़े हुए हैं, के बल को नहीं समझ कर उसके नुकीले दाँत को वलात् उखाड़ना चाहता है ? ॥३॥

व्यानर्दो नहि शयितस्य दन्तिशत्रोरुद्बोधाय प्रतिहतस्तु डिण्डिमोऽयम् ।
श्वासाकृष्टविविधजीवजन्तुसङ्घे लोष्ठं किंस्विदजगरे प्रचालितं वा ॥४॥

यह गर्जन नहीं है, बल्कि सोये हुए सिंह को जगाने के लिए नगाड़ा पीटा गया है, अथवा अनेक प्रकार के जीव-जन्तुओं को श्वास मात्र से अपने मुँह में डालने वाले अजगर के ऊपर ढेला फेंका गया है' ॥४॥

सत्यं ते ननु वचनं जगद्विजेतुः कोभ्यर्णे क्षमत इहासितुं प्रसह्य ।
देवाः स्वं पदमपहाय यत्प्रयाताः केऽन्ये तत्सदृशपराक्रमा वभूवुः ॥५॥

(चापलूस मन्त्रियों ने उसका समर्थन किया।) आप का वचन विल्कुल सत्य है। आप जगद्विजेता के समक्ष टिकने का साहस कौन कर सकता है ? जबकि देवता लोग अपने स्थान को छोड़ कर भाग गये, तो दूसरे कौन देवताओं के समान पराक्रमी पैदा हुए ? ॥५॥

न ध्वानो भवति विभो ! भयाकुलानां केषाञ्चित्करुणमस्ति रोदनं वै ।
नेत्थञ्चेत्कथय पुराणि प्राणिवन्ति कुर्मोद्यैव परिसरान् क्षणेन राजन् ॥६॥

'हे प्रभो ! यह गर्जन नहीं है, बल्कि निश्चय आप के भय से व्याकुल कुछ लोगों का करुणापूर्ण रुदन है । यदि ऐसा नहीं है तो राजन् ! कहिए हम अभी क्षण मात्र में प्राणियों से भरे हुए नगरों को मैदान बना डालें ॥६॥

अस्येद्यो रविवलये रजांसि कश्चित्कृतोर्ध्वं मुखमवलोकते तथामुम् ।
तद्भोगं झटिति भजेन्महान्तमेतन्नो गुप्तं जगति कुहापि वीरवर्य ! ॥७॥

'हे वीर पराक्रमी ! संसार में जो सूर्य के सम्मुख खड़ा हो कर सूर्य-मण्डल में धूल फेंकता है, उसके महान् फल भी वह तुरन्त ही भोग लेता है । इस संसार में कभी फल छिपा हुआ नहीं है ॥७॥

वेदीनां पटलमपास्य पाणिना यत्प्राप्नोति प्रसभमलं फलं मनुष्यः ।
नैतत्तेऽविदितमिहास्ति दानवेन्द्र ! तूर्णं नस्तदुपदिशाक्रमार्थमद्य ॥८॥

'हे राजन् ! जो मनुष्य हड्डे के छत्ते को बलात् हाथ से हटाता है उसका फल तो उसे तत्काल मिल जाता है । यह क्या आप नहीं जानते हैं ? इसलिए शीघ्र हम लोगों को आक्रमण की आज्ञा दीजिए' ॥८॥

जल्पन्तं तमिति समागताश्चराश्च प्रोचुस्त्वद्भयविकलान्तरात्मनां हृत् ।
देवानामिव भुवनं प्रकम्पतेऽद्य नो विद्मः किमिह निमित्तमस्ति राजन् ॥९॥

इस प्रकार बातें करते हुए महिषासुर के पास कुछ गुप्तचरों ने आ कर कहा—'हे राजन् ! जैसे आप के डर से देवताओं का हृदय काँपता रहता है, वैसा ही नहीं पता यह सारा संसार आज क्यों काँप रहा है ? ॥९॥

नार्येका ननु दशभिः करैर्दधाना शस्त्रास्त्रं प्रचुरतरं भयङ्करञ्च ।
तेजोभिर्भुवनतमः प्रकाशयन्ती रक्ताक्षी मुहुरभिगर्जति प्रगल्भा ॥१०॥

'एक स्त्री अपनी दसों भुजाओं में अति भयंकर शस्त्रास्त्रों को धारण कर अपने तेज से संसार पर शासन करती हुई-सी दीख पड़ रही है । वह इतनी ढीठ है कि आँखें लाल किये हुए बार-बार गरज रही है ॥१०॥

सिंहस्थां शशिवदनां मनोहराङ्गीं सद्भूषामपि भयदां प्रदर्शकाणाम् ।
रक्तास्यां मुकुलितपाणिपद्मयुग्मा देवास्ते मधुरगिरः स्तुवन्ति नम्राः ॥११॥

'यद्यपि वह चन्द्रमुखी है, सुन्दरी है, उसने अच्छे आभूषणों को धारण किया है, किन्तु वह सिंह पर बैठी हुई है और उसकी आँखें लाल हैं । इससे वह देखने वालों को भयंकर लग रही है । विनम्र देवता लोग हाथ जोड कर मधुर स्वर से उसकी स्तुति कर रहे हैं ॥११॥

किं वाग्भिर्व्रजतु भवान् ससैन्यसङ्घो दृष्ट्वा तामुचितविधिं करोतु तूर्णम्।
नो चेत्साऽचिरसमयेन किं विधाता शक्तिः काचिदभिनवा विलोक्यतेऽसौ ॥१२

'हे महाराज ! बहुत कहने से क्या लाभ ? आप सेनाओं के समूह के साथ जाइए और उसे देख कर जल्दी-से-जल्दी उचित उपाय कीजिए । नहीं तो वह तुरन्त क्या कर देगी, कुछ ठीक नहीं । वह कोई नयी शक्ति जान पड़ती हैं' ॥१२॥

श्रुत्वा तद्गिरमभिवीक्ष्य मन्त्रिणः स तैः सार्धं करतलदत्ततालमुच्चैः ।
आहस्यापगतभयो जगाद भूयः पुंसः स्याद्भ्यमबलाजनाद्विचित्रम् ॥१३॥

वह महिषासुर गुप्तचरों की बातें सुन कर और मन्त्रियों की ओर देख कर मन्त्रियों के साथ ही ताली पीट कर जोरों से हँसा और निर्भय हो कर फिर बोला—'पुरुषों से भय हो सकता है । स्त्री से भय हो, यह तो विचित्र बात है' ॥१३॥

आवृण्वन्तमपि दिवं निशम्य शब्दं सन्तापं ददतमतीव कर्णयोस्तम् ।
आत्मानञ्च परिनिरीक्ष्य वेपमानमुद्वेगं हृदि बलं दधार भूयः ॥१४॥

तब महिषासुर ने दिशाओं को पूर्ण करने वाले, कानों को अत्यन्त सन्ताप देने वाले शब्द को सुन कर और अपने को काँपते देख कर हृदय में उद्वेग और फिर बल धारण किया ॥१४॥

कृत्वासौ पुनरपि साहसं द्रढीयः सार्धं तैर्निजसचिवैश्च मन्त्रयित्वा ।
चाराँस्तानथ पुरतो विधाय दैत्यः प्रस्थानं बलसहितश्चकार तूर्णम् ॥१५॥

फिर भी उस महिष ने अत्यन्त दृढ़ साहस कर उन मन्त्रियों के साथ मन्त्रणा कर और उन गुप्तचरों को आगे कर शीघ्र ही सेनाओं के साथ प्रस्थान किया ॥१५॥

चारास्तं द्रुतमनयन्महासुरेन्द्रं स्थानं तन्मृगपतिना सहैव देवी ।।
गर्जन्ती सुरनिवहैर्निषेव्यमाणा यत्राऽवर्तत भयदाऽमरद्रुहाणाम् ॥१६॥

दूतों ने महिषासुर को तुरन्त ही उस स्थान पर पहुँचा दिया, जहाँ पर देवी सिंह के साथ गरज रही थीं, देवता लोग जिनकी सेवा में लगे हुए थे जो असुरों को भय देने वाली थीं ॥१६॥

दृष्ट्वासौ महिष उपेत्य जातकम्पस्तां देवीं पुनरपि धीरतामवाप्य ।
ऊचे, किं नदसि मृगेन्द्रहीनदेशे निर्भीके ! त्रिदशमृगान्तिके नितान्तम् ॥१७

वह महिष समीप जा कर देवी को देखते ही काँपने लगा, परन्तु फिर भी

धैर्य धारण कर बोला—'ऐ निडर स्त्री ! जहाँ पर सिंह नहीं है, उन देवता-रूपी हरिणों के निकट बार-बार क्या गरज रही है ?' ॥१७॥

ज्ञात्वा मामसुरवरं निजौजसात्तगीर्वाणाधिकृतिमुपागतं त्वदन्ते ।
तूर्णं चेज्जिगमिषासि प्रयाहि वामे ! युद्धार्हा न हि नवनीतकोमलाङ्गी ॥१८॥

'हे अबले ! तुम्हारे बाद समझ लो कि देवताओं का अधिकार मेरे हाथ आयगा । अतः यदि भागने की इच्छा हो तो जल्दी भाग जाओ । मक्खन के समान कोमलांगी युद्ध के योग्य नहीं होती हैं' ॥१८॥

श्रुत्वा तां त्रिदशपतिद्रुहः प्रगल्भां वाचं वागधिपतिपूजिता सुरेशी ।
आहस्यामरहृदि मोदमादधाना देव्यूचे किमिति मुधाविकत्थनेन ॥१९॥

इस पर बृहस्पति जी से पूजित देवी जी महिषासुर की गर्वपूर्ण वाणी सुन कर जोरों से हँस कर देवताओं के हृदय में आनन्द प्रदान करती हुई बोलीं—'व्यर्थ बकबक करने से क्या लाभ ? ॥१९॥

शूरः स्वं कथयति तं न किन्तु शूरो, युद्धे दर्शयति निजं सुरत्नमेषः ।
त्वच्चित्ते यदि विजयाभिमानता स्यात्तूर्णं तां जहि नहि सा सतां प्रशस्ता ॥२०॥

'वीर अपने आप को वीर नहीं कहता है । किन्तु बेसमझ ! वह वीर तो युद्ध में अपना जौहर दिखलाता है । अतः तुम्हारे हृदय में यदि विजय का अभिमान हो, तो उसे छोड़ दो । अच्छे लोगों की प्रशंसा अभिमान से नहीं होती' ॥२०॥

श्रुत्वेत्थं महिषबलाधिपा बलाढ्यां प्रोचुर्मत्प्रभुरबलां विलोक्य स त्वाम् ।
अद्यापि त्यजति वरानने ! ध्रुवं नो चेद्धन्यात्सह विबुधैः कदैव देवि ! ॥२१॥

बल से समुद्धत महिषासुर के सेनानायक यह सुन कर बलवती देवी से बोले—'हे सुमुखी ! हमारे स्वामी अबला देख कर अभी तक तुझे छोड़े हुए हैं । नहीं तो हे देवि ! यह निश्चय समझो, हम तुझे कभी ही देवताओं के साथ मार डालते' ॥२१॥

स्वामिस्त्वं व्रज वयमेव तामपास्तुं पर्याप्ता नहि तव वर्ततेऽत्र कार्यम् ।
ते योधा इति विरमय्य तं नियोद्धुं सन्नद्धा झटिति बभूवुरुद्यतास्त्राः ॥२२॥

तब सेनानायकों ने अपने स्वामी महिष से कहा—'हे स्वामी ! आप जाइए । हम लोग ही उस स्त्री को भगाने में समर्थ हैं । इसमें आप को कुछ नहीं करना है ।' वे वीर सेनानायक महिष को युद्ध करने से रोक कर झट से हथियार तान कर घोर युद्ध करने के लिये तैयार हो गये ॥२२॥

तेषां कश्चन तरसापतन्तमारात्पाशेनात्मकरप्रचालितेन देवी ।
संवेष्ट्यारिमवचकर्ष तीव्रवेगान्निम्नास्यो भुवि पतितोऽपि दैत्यवीरः ॥२३॥

तत्पश्चात् देवी जी ने उन सैनिकों में से किसी एक को अपने हाथ से चलाते हुए पाशास्त्र के द्वारा अत्यन्त वेग से लपेट कर ऐसा खींचा कि वह दैत्यवीर औंधे मुँह जमीन पर गिर गया ।।२३।।

निर्णासो वनजवराहदन्तकोटिर्नामिभूतो भुवि पतितोपि दैत्यवीरः ।
दोषो यत्समय उपस्थितः कदाचिन्मये तद्भवति गुणो यदृच्छयैव ॥२४॥

जमीन पर गिरने पर भी उस वीर दैत्य की नाक बच गयी, क्योंकि उसके दो दाँत जंगली सूअर के समान (लम्बे और नुकीले) थे । जो दोष के रूप में रहता है, वह कभी गुण के रूप में भी परिवर्तित हो जाता है ।।२४।।

उत्थायाथ पुनरपि त्रिशूलमेष उद्यम्याशु भगवतीमुपाजगाम ।
दृष्ट्वा तद्द्रुततरमात्मनस्त्रिशूलं सम्भ्राम्यारिवधमसौ चकार देवी ॥२५॥

पुनः वह दैत्य झट से उठ कर त्रिशूल ले कर देवीजी के पास दौड़ा । यह देख कर देवी जी ने बड़ी फुर्ती के साथ अपने त्रिशूल को घुमा कर शत्रु को मार डाला ।।२५।।

अन्यं तं प्रबलबलाधिपं सुवेगादागच्छन्तमुप दनुजवरं जघान देवी ।
देव्यासौ हृदि मुसलेन ताडितः सन् दिव्यं लोकमित इतो विहाय भौमम् ॥२६॥

फिर देवीजी ने बड़े वेग से निकट आते हुए एक दूसरे बलशाली सेनानायक को मारा । देवीजी के मूसल से कलेजे में चोट खा कर वह भूमि-सम्बन्ध को विच्छेद कर यहाँ से दिव्य लोक को चला गया ।।२६।।

आयातः सशरधनुर्महारयेणाकर्षन् संविहितमहारवं तत् ।
कश्चिद्दानवबलरक्षकोऽभियोद्धुं कुर्वाणो विविधविवर्तनं विचित्रम् ॥२७॥

शीघ्र ही एक सेनानायक धनुष-वाण लिए हुए आया । बड़े वेग से धनुष खींचने के कारण जोर का टंकोर हो रहा था । एक दूसरा सेनानायक तरह-तरह के विचित्र पैंतरे करता आया ।।२७।।

साहाय्यं तदनु तस्य कर्तुमन्यो निस्त्रिंशद्वयमुभयेन पाणिनोग्रम् ।
आयातोऽति चपलयन्सुभीमनादः कोपेनारुणनयनो भयङ्करास्यः ।।२८॥

उसके पीछे, उसकी सहायता करने के लिए दोनों हाथों में भयंकर तलवार को लपलपाते हुए तथा भयंकर रूप में गरजते हुए एक अन्य दानव आ गया, जिसकी आँखें लाल थीं और जिसका मुँह बड़ा भयंकर था ।।२८।।

देवी तावतितरसागतौ समक्षं हुंकारेण च परिचकार भस्मरूपौ ।
तत्पादेन विहितप्रेरणो मृगेन्द्रः शत्रूणां निवहमुखं चचाल गर्जन् ॥२९॥

देवीजी ने उन दोनों को अत्यन्त वेग से निकट में आते हुए देखकर 'हूँ' कर

दिया जिससे वे दोनों भस्मावशेष हो गये और देवीजी के पैर के संकेत से प्रेरित सिंह शत्रु-समूह के सामने गरजता चल पड़ा ॥२९॥

केषाञ्चिन्मृगपतिनाऽथ दानवानां भीमेनातिवलवतेर्ष्यितेन तेन ।
अन्त्राणि प्रचकृषिरे नखैर्विदार्य निर्यद्रक्तप्रसरणोक्षितावनीनि ॥३०॥

इसके बाद भयंकर, अति बलवान् स्पर्धा किये हुए उस सिंह ने नखों से कितने ही दैत्यों के पेट फाड़ कर आँतें खींच लीं। उन आँतों से प्रवाहित रक्त से जमीन भींग गयी थी ॥३०॥

अन्येषां तदनु च दानवेश्वराणां तेनैव प्रखरनखाग्रपातनेन ।
उद्भिन्नं स्तनयुगलं गजेन्द्रकुम्भतुल्यं निर्गतविशदास्थिमौक्तिकालि ॥३१॥

इसके बाद किन्हीं और दानवों के गजराज के मस्तक के समान उठी हुई छाती के दोनों भागों को सिंह ने फाड़ दिया, जिससे दानवों की छाती की हड्डियाँ निकल कर मोतियों की तरह झलकने लगीं ॥३१॥

दंष्ट्राभिर्धृतदनुजोरुबाहुदण्ड आकर्षन् गहनरणे मृगाधिराजः ।
धीराणामपि हृदये भयं प्रगाढं चण्डोऽसावुपजनयँश्चचार वेगात् ॥३२॥

वह सिंह अपने दाँतों से दानवों की भुजाओं को पकड़ कर खींचते हुए, धीरों के हृदय में भी प्रगाढ़ भय का संचार करते हुए, उस युद्ध में वेग से भ्रमण करने लगा ॥३२॥

लाङ्गूलप्रहरणशीर्णगात्रबन्धाः केचित्ते भुवि पतिता गतासवोऽन्ये ।
आः कष्टं जननि ! मृता निगद्य युद्धादुद्विग्नाः प्रययुरवाङ्मुखाः सलज्जाः ॥३३॥

पूँछ की चोट से दानवों की सन्धियाँ ढीली पड़ गईं, कुछ तो जमीन पर गिर कर मर गये, और कुछ यह कह कर 'ओह ! बड़ा कष्ट ! मैया, मरे !'—युद्ध करने से उद्विग्न हो कर लज्जित हो सिर झुकाए भाग गये ॥३३॥

इत्थं तद्विहितभयङ्करप्रहारा नो शेकुर्मृगपतिना कृतं विसोढुम् ।
घातं तत्र च प्रययुः सुरारयस्ते यत्रासीद्विक्लतमनास्तदाधिपेन्द्रः ॥३४॥

इस प्रकार वे दैत्य मृगेन्द्र द्वारा की गयी भयंकर चोट सह नहीं सके और वहाँ भागे, जहाँ उदास हृदय उनके स्वामी थे ॥३४॥

इतः स गर्जन् जगदम्बिकाहरिर्मृधे समन्तादरितुं प्रचक्रमे ।
तथाऽमराणां हृदयस्थितः शनैः सदागतिश्चापि चचाल पूर्ववत् ॥३५॥

इधर जगदम्बा के सिंह ने युद्ध क्षेत्र में गरजते हुए चारों ओर दौड़ना आरम्भ किया और उधर देवताओं के हृदय में वायु का संचार धीरे-धीरे पूर्ववत् होने लगा ॥३५॥

ये पूर्वं हृदि धृतमहाभिमानदृप्ता
ते संत्यज्य गता रणं भयंकरं तम्।
यद्यत्कोपि मनसि करोति कर्तुमत्र
स्यात्तत्तत् सफलमपि भवेन्न नूनमेतत् ॥३६॥

पहले जो दैत्य हृदय में अभिमान रखने के कारण उद्धत हो रहे थे, वे सब उस भयंकर युद्ध को छोड़ कर चले गये। संसार में जो कोई मन में जिस-जिस काम को करने का विचार लाता है, आवश्यक नहीं कि वह सब सफल हो ही ॥३६॥

बाधा निरस्ता सकला यया स्यात् तयैव सार्धं यदि विग्रहोस्ति।
साफल्यमत्रास्तु कथं नु कार्ये सिद्धिः सधर्मा न विरुद्धधर्मा ॥३७॥

जिस देवी के द्वारा सारी बाधाएँ दूर हो सकती हैं, यदि उसी के साथ विरोध हो, तो उस कार्य में सफलता कैसे हो सकती है ? सफलता समान धर्म के के साथ होती हैं, विरुद्ध धर्म के साथ नहीं ॥३७॥

महिषस्तान् समायातान् क्षतविक्षतविग्रहान्।
विलोक्य वेपमानान् स ददद्धैर्यमुवाच ह ॥३८॥

उस महिषासुर ने उन आये हुए दैत्यों के क्षत-विक्षत शरीर देखे और उन्हें भय से ही काँपते हुए देख कर धैर्य और साहस बँधाकर बोला ॥ ३८॥

हे वीराः किमधीराः स्थ नार्यग्रात् किं पलायनम्।
यदीत्थं तच्छिवाभीतेः सिंहस्य प्रति वर्तनम् ॥३९॥

हे वीरो ! तुम लोग अधीर क्यों हो रहे हो ? एक अबला के सामने से पलायन कैसा ? यदि ऐसा हो, तो यह तो सिंह के लिए स्यारी के डर से भागने के बराबर है ॥३९॥

विश्रामं कुरुताद्यान्ये युद्धे यान्तु महाबलाः।
कलां स्वां दर्शयित्वा तामादायायान्तु साम्प्रतम् ॥४०॥

अच्छा आज तुम लोग विश्राम कर लो। तब तक दूसरे वीर लोग जायें और अपनी युद्ध कला दिखा कर उस नारी को पकड़ कर इस समय ले आयें ॥४०॥

इति निगद्य विसृज्य समागतानितरवीरवरानथ प्रेष्य च।
स्थिरमना ह्यभवत्क्षणमात्रकं स्वयमुपाक्रमदाशु रणाय सः ॥४१॥

यह कह कर महिषासुर उन लोगों को विदा कर तथा और दूसरे अधिक सबल वीरों को भेज कर क्षण भर स्थिरचित्त हो गया और स्वयं युद्ध की तैयारी करने लगा ॥४१॥

यास्यन्तो रणविच्युता प्रगल्भा वाचो दैत्यपतेर्निशम्य भीताः ।
युद्धादद्य वृथा पराङ्मुखाः स्म श्वो नूनं भविताऽपमृत्युरेव ।।४२।।

युद्ध स्थल से भागे हुए वीर लोग अपने स्वामी के ढीठ वचनों को सुन कुढ़ गये और उन्होंने मन में सोचा कि आज हम लोग युद्ध से व्यर्थ भागे । कल तो निश्चय ही हमलोगों की अकाल मृत्यु होगी ।।४२।।

यां स्वामी समवैति कोमलाङ्गीं सम्यक् तां न हि वेत्ति वज्रकल्पाम् ।
स्मृत्वा चापि प्रवेपते मनांसि दृष्ट्वा ज्ञास्यति सोपि केयमस्ति ।।४३।।

स्वामी जिसे कोमलाङ्गी समझ रहे हैं, उसको वे भली-भाँति नहीं जान रहे हैं, उसका शरीर व्रज्र से बना हुआ है । हमलोगों के हृदय तो उसका स्मरण करते ही काँप रहे हैं । वे भी उसे देखकर समझ जायेंगे कि यह कौन है ।।४३।।

इति श्रीदेवीचरिते महाकाव्ये महिषसैन्यपराजयो नाम पञ्चमः सर्गः ।

'श्रीदेवीचरित महाकाव्य' में महिष की सेना की पराजय नामक
पाँचवाँ सर्ग समाप्त ।

षष्ठः सर्गः

अथासुरेन्द्रो महिषः स्वसैन्यतो निशम्य वैलक्ष्यकृतं पराजयम् ।
विलोक्य ताँश्च क्षतजारुणाङ्ककान् निनिन्द देवेन्द्रजयं पुरा कृतम् ॥१॥

दैत्यराज महिष अपनी सेना के मुख से उदासी प्रकट करने वाली अपनी पराजय की बात सुन कर और उनके शरीर को क्षत-विक्षत देख कर पूर्व में की हुई इन्द्र पर विजय की निन्दा करने लगा ॥१॥

समागतोयं समयो नु कीदृशो जिग्युः स्वशक्त्या भुवनत्रयं पुरा ।
यतो दिगीशा अपि बिभ्यति स्म, तेऽबलाभिया सम्प्रति हा चकम्पिरे ॥२॥

यह समझ में नहीं आता कि कैसा समय आ गया है। हमारे जिन सैनिकों की शक्ति से तीनों लोकों पर विजय प्राप्त हुई थी, जिन से दिक्पाल लोग डरते थे, वे सब एक अबला के भय से काँप रहे हैं ॥२॥

बलप्रमत्तानि बलानि यानि मे बलस्य शत्रोः समरे निजं बलम् ।
प्रदर्श्य लोकान् सभयान् प्रचक्रिरे भवन्ति तान्यद्य भयाकुलान्यहो ॥३॥

बल से मतवाले मेरे जिन सैनिकों ने शत्रु-सेना को संग्राम में अपना बल दिखला कर संसार को भयभीत कर दिया था, वे ही इस समय स्वयं भयभीत हो रहे हैं ॥३॥

मदीयवीरेण पराजितः शिखी निजप्रतापं विजहौ महत्तरम् ।
स एव किं मामवलोक्य साम्प्रतं हसेदहो तन्महदित्यसाम्प्रतम् ॥४॥

मेरी सेना से पराजित हो कर अग्नि ने अपने महत्तर प्रताप को छोड़ दिया था। क्या वही इस समय मुझे देखकर हँसेंगे ? ओह ! अनुचित होगा ॥४॥

निराकृतो यद्बलवत्प्रहारिभिर्यमो विहायालयमात्मनः पुरा ।
इतस्ततोऽभ्राम्यदसौ निजालयं नयत्यहो तान् स महान् विपर्ययः ॥५॥

जो यमराज पहले मेरे बलवान वीरों के प्रहार से अपने निवास स्थान को छोड़ कर इधर-उधर भटकते फिरते थे, वे उन वीरों को अपने स्थान पर ले जायेंगे। ओह ! महान् विपर्यय है ॥५॥

जलाधिपः स्वं गुणमेव दर्शयन् प्रभुर्विधातुं न बभूव किञ्चन ।
असाविदानीं सरसो भविष्यति सदैव कालो बलवान्न संशयः ॥६॥

जो जलेश (जड़ेश) वरुण अपने गुण (महान् जड़ता) को दिखलाते हुए उस समय कुछ नहीं कर सके थे, वह अब सहृदय होंगे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि समय सदा बलवान नहीं रहता है ॥६॥

धनाधिपः स्वं निधिमेव तत्क्षणं समर्प्य मे प्राणममोचयत्तदा।
किमित्यनायासमसौ ग्रहीष्यति पुरार्पितं न्यासमिवाद्य मत्करात् ॥७॥

जिस कुबेर ने पहले मेरे द्वारा आक्रमण करते ही अपना सारा खजाना मुझे अर्पण कर अपने प्राण बचाये थे, क्या वे ही कुबेर, जैसे पहले किसी के यहाँ रखे हुए धरोहर को समय पर उससे वापस ले लेता है, मेरे हाथ से अनायास आज ले लेंगे ? ॥७॥

पुरा सुराः स्वं नमयन्ति मस्तकं निशम्य मां ये स्म विषण्णमानसः।
त एव हा सम्प्रति मां तथाविधं कथं विधास्यन्ति विधेर्विपर्ययात् ॥८॥

जो देवता पहले मेरा नाम सुन कर खिन्न हृदय हो कर अपना सिर झुकाते थे। हाय ! वे ही लोग इस समय भाग्य की प्रतिकूलता से क्या वैसा मुझसे करवायेंगे ॥८॥

किमेतया वा परिचिन्तया मुधा विधिर्विधेयो न तु चिन्तनश्च तत्।
सुसम्पदो धैर्यवतां करस्थिता भवन्ति तद्धारणमेव तद्वरम् ॥९॥

झूठ-मूठ इस चिन्ता से क्या लाभ ? उपाय करना चाहिए, चिन्ता नहीं। सुन्दर सम्पत्तियाँ धैर्य धारण करने वालों के हाथ में ही रहती हैं। इस कारण धैर्य ही धारण करना अच्छा है ॥९॥

विचिन्तयन्तश्च नयन्तमात्मनि सुधीरणामूचुरनेकशोऽसुसराः।
यथाह देवालमलं विचिन्तया विनाशयित्र्याखिलकार्यवस्तुनः ॥१०॥

(इस प्रकार) चिन्ता करते हुए तथा अपने में धैर्य धारण करते हुए दैत्यराज़ से अनेक दैत्य बोले—हे महाराज ! आप ठीक कहते हैं। चिन्ता करना बेकार है। चिन्ता सभी काय—वस्तु को नष्ट करने वाली है ॥१०॥

कटिं वधानाशु रणाय साम्प्रतं विलम्बकालो न विलोक्यते प्रभो।
कदाचिदायास्यति चेदिहैव सा महाननर्थो भविता ततो ध्रुवम् ॥११॥

'युद्ध के लिए अविलम्ब कमर कसिए। हे स्वामी ! विलम्ब करने का समय नहीं दीख पड़ता है। यदि कदाचित् वह नारी यहीं पर आ जाय तो निश्चय ही महा अनर्थ हो जायगा' ॥११॥

परामृशन्तो महिषादयोऽसुरा निशेमुरत्यन्तभयङ्करध्वनिम्।
विलोकयामासुरथोऽचिरद्युतिप्रभां सकोपां विविधायुधाश्रिताम् ॥१२॥

महिष आदि असुर इस प्रकार परामर्श कर ही रहे थे कि बड़ा भयङ्कर शब्द सुन पड़ा। उन लोगों ने तुरन्त ही उसे देखा जिसके शरीर की कान्ति बिजली के समान चमक रही थी, वह क्रोधित थी और अनेक प्रकार के शस्त्रों से सज्जित थी ॥१२॥

किमत्र रे तिष्ठसि मद्भयाकुलो विविक्तदेशे सचिवैः समन्वितः।
समागतां किन्न निरीक्षसेऽन्तिके त्वदन्तिकामन्तकधैर्यलोपिनीम् ॥१३॥

(आते ही इस प्रकार बोली) 'अरे महिष ! मेरे भय से व्याकुल मन्त्रियों के साथ एकान्त में यहाँ क्यों छिपा है ? मैं काल की भी धीरता को लुप्त करने वाली और तुझे नष्ट करने वाली हूँ। तुम मुझे क्यों नहीं देखते हो ? ॥१३॥

इति ब्रुवाणां भयदां दुरात्मनां महात्मनाञ्चाप्यभयङ्करीं शिवाम्।
जगाद धैर्येण समन्वितोऽसुरो हृदातिभीतोऽप्यभिमानपूर्वकम् ॥१४॥

दुरात्माओं को भय देने वाली तथा महात्माओं को अभय करने वाली शिवा को ऐसा बोलते हुए देखकर हृदय से डरा हुआ, किन्तु धैर्य के साथ महिष अभिमान पूर्वक बोला—॥१४॥

किमित्थमाक्षेपगिराऽधितक्षसे विविक्तदेशं अयतेऽबलाजनः।
न पश्यसि श्मश्रुसमन्वितं मुखं विशङ्कसे भीरु ! न वा सुमध्यमे ॥१५॥

इस प्रकार अपमान के शब्दों से क्यों मुझे वेध रही हो ? स्त्रियाँ तो एकान्त में ही रहती हैं। भीरु अबले ! इधर क्या कड़ी-कड़ी मूँछ और दाढ़ियों से भरा मेरा मुख नहीं देख रही हो ? हे सुन्दर कमरवाली ! मुझे देख कर तुम्हें कुछ शंका होती है या नहीं ? ॥१५॥

इति ब्रुवाणेन सुरेन्द्रशत्रुणा शनैः शनैः सज्जितयुद्धवेषिणः।
परिक्रमादर्शितविक्रमक्रुधा युद्धानुरूपायुधधारिणा स्थितम् ॥१६॥

इस प्रकार बोलते हुए महिष धीरे-धीरे युद्ध के लिए सज्जित हो गया। उसने युद्ध के अनुकूल हथियारों को धारण कर बल और क्रोध को पैतरों द्वारा दिखलाने लगा ॥१६॥

धनुष्यथाधाय च बाणमुत्कटं निपीड्य वामेन पदा भुवस्तलम्।
अनुत्थितेनापि च दक्षिणेन तद्गुणं व्यधायि स्पृशताऽथ हुंवचः ॥१७॥

उसके बाद धनुष पर भयंकर बाण रख कर और बाएँ पैर से भूमि को बलपूर्वक दबा कर तथा दाहिने पैर को पूरा न उठा कर धनुष के रोदे को (प्रत्यंचा) को शब्दायमान करता हुआ 'हुं' करके तैयार हो गया ॥१७॥

धनुर्गुणं बाणसमीपमागतं सबाणमाकृष्य जहौ ततोऽसुरः।
कृतध्वनिर्ज्यामतिहाय निसृतश्चचाल बाणो जगदम्बिकान्तिके ॥१८॥

तब महिषासुर ने बाण चढ़े हुए धनुष के रोदे को जोरों से खीच कर उसने बाण छोड़ा, जो चल कर 'सन्न' की आवाज करता हुआ जगदम्बा के निकट पहुँचने लगा ॥१८॥

तयान्तरे चालितबाणखण्डितो न तत्समीपं प्रययाविषुस्तदा ।
पपात भूमावभिवन्दनच्छलान्निजापराधं परिमार्जयन्निव ॥१९॥

इसी बीच वह बाण जगदम्बिका के चलाये हुए बाण से दो टूक हो कर जमीन पर गिर गया। वह वैसा ही हो गया जैसे अपने अपराध को क्षमा करने के लिए दूर से ही दण्डवत् कर रहा हो ॥१९॥

पुनर्निधायेषुमनुत्तमं धनुर्गुणेपरं तूर्णतरं व्यचालयत् ।
सुरारिसङ्गात्त्रपितो नु तत्क्षणादवाङ्मुखः सम्पतितो महीतले ॥२०॥

फिर भी उसने दूसरा उससे श्रेष्ठ बाण धनुष के रोदे पर रख कर झट से चलाया। वह बाण उसी क्षण नीचे मुँह कर जमीन पर गिर गया, मानो उसने देवशत्रु के सम्पर्क में रहने से लज्जित हो कर सिर झुका लिया हो ॥२०॥

ततो विहायासुरनायको द्रुतं विदूयमानेन हृदा शरासनम् ।
असिं समादाय ससाहसो ययावुपान्तिकं तद्विबुधाधितैजसम् ॥२१॥

महिष तुरन्त ही खिन्न हृदय से धनुष को छोड़ कर साहस के साथ तलवार ले कर उस देवाधितेज (देवी जी) के निकट गया ॥२१॥

समापतन्तं रभसन्निजान्तिकं सखड्गपाणिं दनुजाधिनायकम् ।
कचे गृहीत्वा मुसलेन वक्षसि व्यताडयद्भीमतरेण चण्डिका ॥२२॥

हाथ में तलवार लिये हुए महिषासुर को बहुत वेग से अपनी ओर आते हुए देख कर चण्डिका ने उसके केश पकड़ कर भयङ्कर मूसल से उसके हृदय में मारा ॥२२॥

तदाहतो जातघनव्यथोऽसुरो निधाय पाणिं हृदि जातवेपथुः ।
ददर्श विश्वं सचराचरं भ्रमत्तमस्यपारे पतितं पपात च ॥२३॥

मूसल से चोट खाये हुए कलेजे के दर्द से पीड़ित, काँपते हुए अपने हाथ को हृदय पर रख कर उसने सारे संसार को चर-अचर के साथ घूमता हुआ और वाद घने अन्धकार में गिरा हुआ देखा और बाद वह स्वयं गिर पड़ा ॥२३॥

ततो निशम्य ध्वनिमुच्चकैः कृतं मृगाधिपेन श्रुतिसंज्वरप्रदम् ।
विविग्न उत्थाय कृतध्वनिः स्थितः पुनः स देव्या निकटं धृतायुधः ॥२४॥

किन्तु शीघ्र ही कान फाड़नेवाला देवी जी के सिंह का जोरों का गर्जन सुन कर घबड़ा कर उठा, गरजा, हथियार उठाया और देवी जी के निकट खड़ा हो गया ॥२४॥

ततस्तया चालितपाशवेष्टितो न कर्तुमीशे किमपि प्रकोपनः ।
कृतस्मयः सस्मितयाऽति दूरतो विचिक्षिपे कौतुकसंकुलात्मना ॥२५॥

तब देवी जी के चलाये हुए पाशास्त्र से बँध जाने के कारण अत्यन्त क्रोध में आने पर भी कुछ कर नहीं सका; बल्कि आश्चर्य में आ गया (कि यह क्या हुआ) । बाद कौतुक करने वाली देवी जी के द्वारा दूर से ही खिंच गया ॥२५॥

विदूरतः खड्गमपास्य सोऽसुरो धनुः सबाणं धृतवान् धृताधृतिः ।
तदीयचापं सगुणं विचिच्छिदे कुतश्चिदागत्य नवेन्दुनेषुणा ॥२६॥

यद्यपि महिष अधीर हो रहा था, फिर भी दूर से ही तलवार फेंक कर उसने धनुष-बाण धारण किया । लेकिन कहीं से (देवी जी के चलाए हुए) आये हुए नवीन चन्द्रमा के समान फल वाले बाण से महिष का धनुष बाण के साथ कट गया ॥२६॥

तथाऽपरैर्बाणशतैः समावृतो हरिर्यथा पञ्जरसंस्थितो बभौ ।
व्यलोकयत्त्राणमसौ ततो न यत्तदात्ममायां विततान मोहिनीम् ॥२७॥

शीघ्र ही महिष सैकड़ों बाणों से घिर गया जैसे पिंजड़े में सिंह बन्द हो जाता है । जब उसने देखा कि अब (युद्ध से) त्राण नहीं हो सकेगा तो संसार को मोहित करने वाली अपनी माया को उसने फैलाया ॥२७॥

विनिःसृतायाश्च समाश्च सैव या तदन्तिकेतां प्रकटय्य मूढधीः ।
निजां क्षतिं कर्तुमियेष सद्गुरोः सगर्वशिष्यो निकटे कलामिव ॥२८॥

जिस महामाया से सारी मायायें प्रगट हुई हैं और जो समस्त मायाओं के रूप हैं, मूर्ख बुद्धिवाला वह महिष अपनी माया प्रगट करके उस प्रकार उसकी क्षति करना चाहा जैसे घमण्डी शिष्य गुरु के सामने अपनी कला दिखाता है ॥२८॥

व्यलोकि वात्यावलयं ततो महत् पलायमानं तु महीतलं भयात् ।
प्रतापपुञ्जं शरणं व्रजद्रविम्भ्रमद्रजः पत्रतृणादिसंवृतम् ॥२९॥

इसके बाद उड़ता हुआ एक भयंकर बंडोवा दीख पड़ा जिसमें धूल, खर-पत्ते घूम रहे थे । जान पड़ता था कि उस भयङ्कर संग्राम से डर कर पृथ्वी से उड़ता हुआ तेजपुन्ज सूर्य की शरण में जा रहा हो ॥२९॥

तदन्तरेत्यन्तभयङ्कराकृतिर्बृहद्विषाणोद्धृतभूमिमण्डलः ।
धनावलिश्यामतनुर्नदद् भृशं कडङ्गरीयोऽथ महीधरोपमः ॥३०॥

उसके भीतर अत्यन्त भयंकर आकृतिवाला, लम्बे-लम्बे सींगों से भूमण्डल को विदारता हुआ, घने बादल के समान श्याम शरीर धारी काले पहाड़ के समान बार-बार गरजता हुआ, एक भैंसा दीख पड़ा ॥३९॥

मह्याखुराघातविदारितावनिर्निजायतश्वासविकम्पिताचलः ।
श्रुतिप्रकम्पोत्थितनिस्वनश्रुतिप्रकम्पितान्तःकरणाखिलप्रजः ॥३१॥

वह भैंसा बड़े-बड़े खुरों के आघात से पृथ्वी को खन रहा था, लम्बी श्वास से पहाड़ को भी कम्पित कर रहा था, कानों के फटकारने से जो आवाज निकल रही थी उसे सुन कर सब का अन्तःकरण त्रस्त हो रहा था ॥३१॥

विधाय तिर्यङ् निजमस्तकं महद्विशालतुण्डारुणनेत्रभूषणम् ।
चचाल दुर्गाभिमुखं घनध्वनिर्धृताकृतिर्दर्प इवातिवेगतः ॥३२॥

वह (महिष) विशाल मुखाग्र और लाल नेत्र से सुशोभित अपने महत् मस्तक को टेढ़ा करके, जैसे शरीर धर कर गर्व ही आता हो, जोरों से गरजता हुआ दुर्गा महारानी की ओर बहुत वेग से चला ॥३२॥

तमागतं वीक्ष्य विहस्य तं पुरो विषाणलाङ्गूलमहायुधं जया ।
कृतस्मिता दर्पविनाशकारिणी स्ववाहनं सिंहमचालयत्पदा ॥३३॥

तब गर्व को चूर करने वाली महारानी ने सींग और पूँछ को ही हथियार बना कर बड़े वेग से सामने आये हुए उसे देख कर मुस्कुराती हुई अपने वाहन सिंह को पैर के इशारे से आगे बढ़ाया ॥३३॥

मृगाधिपस्तच्चरणाब्जचालितो मुमोच नादं परभीप्रदायकम् ।
निजाग्रपादद्वयमुग्रतच्छिरस्यपातयच्चायतवारिदध्वनिः ॥३४॥

सिंह दुर्गाजी के पैर का संकेत पा कर चला और भयंकर गरजने लगा। बादल गरजने के जैसा जोरों से गरज कर अपने अगले दोनों पैरों से उसने महिष के मस्तक पर मारा ॥३४॥

स्वकीयवाहप्रगृहीतमस्तकं महीतलस्थापितजानुयुग्मकम् ।
त्रिशूलघातेन विचेतनं व्यधादरिं प्रचण्डं महिषाकृतिं शिवा ॥३५॥

दुर्गाजी ने, जिस महिष को उनके वाहन ने जकड़ लिया था, जिसके दोनों ठेहुने जमीन पर दब गये थे, उस भयंकर शत्रु महिषासुर को त्रिशूल की आघात से बेहोश कर दिया ॥३५॥

क्षणादसावेत्य च चेतनां पुनर्विहाय रूपं महिषस्य दुर्धियः ।
दधार सैंहीं तनुमुच्चकैर्नदन्नुपाजगामाभिमुखं जगद्भुवः ॥३६॥

क्षणमात्र में ही होश में आकर दुर्बुद्धि ने महिष का रूप छोड़ कर सिंह का रूप बना लिया और जोरों से गरजता हुआ जगत्कारणभूत दुर्गाजी के सम्मुख आ गया ॥३६॥

समुत्थितं मेघरवं निशम्य यो मृगाधिराजोऽपरसिंहशङ्कया।
पुनः पुनर्मुञ्चति भीमनिस्वनं समागतं संसहते पुरः कथम् ॥३७॥

जो सिंह अपने स्वभाववश गरजते हुए बादल को सुन कर दूसरे सिंह का गर्जन समझ कर बार-बार भयंकर गर्जन करता है, वह सामने आये हुए सिंह को कैसे सहन कर सकता है ? ॥३७॥

निजाग्रहस्ताङ्गुलिजन्मभिर्महारयेण कर्णान्तमहन् रुषा हरिः।
छलात्तसिंहाकृतिराहतो नखैरताडयन्मस्तकमुग्रनिस्वनः ॥३८॥

उसके बाद सिंह ने क्रोध कर अपने नखों से बड़े वेग पूर्वक कान की जड़ पर मारा। देवीजी के सिंह से आहत हो कर उस बनावटी सिंह ने भयंकर गर्जन के साथ नखों से मस्तक पर मारा ॥३८॥

जगन्नियन्त्री निजवाहनेऽर्पितं प्रहारमालोक्य विकम्पिता क्रुधा।
असिं समाकृष्य जघान मस्तके न कस्य पक्षो भवति स्वके जने ॥३९॥

जगदम्बिका अपने वाहन सिंह के ऊपर किये हुए प्रहार को देख कर क्रोध से अत्यन्त चंचल हो उठीं और उन्होंने तलवार से उसके माथे पर मारा। अपने जन के लिए कौन पक्षपात नहीं करता ? ॥३९॥

पुनः स तूर्णं प्रविहाय तद्वपुर्दधार वीरोचितमानुषाकृतिम्।
त्रिशूलमादाय करेण वेगवान् विलोकितो देवरिपुर्विघूर्णयन् ॥४०॥

तब उस देवशत्रु महिष ने उस शरीर को छोड़ कर वीरोचित मनुष्य का शरीर धारण कर लिया और बड़े वेग से त्रिशूल तान कर इधर-उधर चक्कर लगाता हुआ दीख पड़ने लगा ॥४०॥

ततो जगन्मङ्गलकारिणी शिवाऽशिवत्रिशूलं निजशूलतोऽच्छिनत्।
तदैव विश्वं सकलं चराचरं त्रिशूलमेवाऽभवदम्बिकाबलात् ॥४१॥

संसार की मंगलकारिणी चण्डिका ने उस अशुभ त्रिशूल को अपने शूल से काट दिया। उसी समय चराचर, सारा संसार जगदम्बिका की शक्ति से शूल ही शूल हो गया ॥४१॥

पुनः समास्फोट्य निजोरुयुग्मकं रयादभिप्लुत्य विहायसि द्रुतम्।
इयेष केशग्रहणाय सत्वरो निपातितः कौ परिघेण ताडितः ॥४२॥

इसके बाद रम्भ ठोक कर बड़े वेग से आकाश में उड़ कर चाहा कि देवीजी के बाल पकड़ लूँ। इतने में लोहा बन्धे मोटे डंडे से पीट कर शीघ्र ही उसे जमीन पर गिरा दिया गया ॥४२॥

शिवाऽथ पाशं परिचाल्य दूरतो गले गृहीत्वाऽसुरनायकं बलात् ।
समाचकर्षाभिमुखं पुरश्च स विलोकितो वारणराजरूपवान् ॥४३॥

शीघ्र जगदम्बा ने दूर से ही बलपूर्वक पाशास्त्र चला कर उसके गले में लपेट कर खींचा। इतने ही में वह अत्यन्त सामने हाथी के रूप में दीख पड़ा ॥४३॥

स्रवन्मदार्द्रायितगण्डमण्डलो विशालदन्तातिभयङ्करानन: ।
इतस्ततो दीर्घंकरं प्रचालयन्नियेष तां पातयितुं मृगेन्द्रतः ॥४४॥

उसके विशाल गाल से मद चू रहा था, लम्बे दाँतों से उसका मुख भयंकर हो रहा था, वह सूँढ़ को इधर-उधर चला रहा था और जान पड़ता था कि उसी से जगदम्बा को सिंह से अलग खींच लेगा ॥४४॥

तदीयशुण्डस्य बिले जगन्मयी विधाय भृङ्गं निजशक्तितोऽम्बिका ।
समर्पयत्तेन कृतार्तनिस्वनो महागजः शुण्डमधूनयद्भृशम् ॥४५॥

जगदम्बिका ने अपनी शक्ति से एक भौंरा का निर्माण कर उस हाथी के सूँढ़ में डाल दिया। तब वह हाथो जोरों से चिग्घाड़ने लगा और सूँढ़ को धुनने लगा ॥४५॥

यदा च थुंथुं बहुशः कृतेऽपि तद्बिलाद्बहिर्नो निरगान्मधुव्रतः ।
तदागतोऽन्यत्र विहाय तद्वपुर्व्यमोचयत्पिण्डमितोऽरिसङ्कटात् ॥४६॥

जब बार-बार 'थूं-थूं' करने पर भी भौंरा उसके सूँढ़ से बाहर नहीं निकला तब दूसरी जगह जा कर उस शरीर को बदल कर उसने इस शत्रु के संकट से अपना पिण्ड छुड़ाया ॥४६॥

कडङ्गरीयाकृतिमेव सोऽसुरो दधान आयादतिगर्वदर्पितः ।
प्रहर्तुमुग्रं व्यवसाययन् मुहुर्निरीक्ष्य हुङ्काररवैर्निवर्तितः ॥४७॥

घमण्डी बना हुआ वह दैत्य फिर भी भैंसा ही का रूप धारण किये हुए अतिवेग से उग्र प्रहार करने के लिए उद्यम करता हुआ आया जिसे देख कर देवीजी ने जोरों से 'हुं' कर दिया जिससे वह लौट गया ॥४७॥

पुनः समाधाय च साहसं समागतोम्बिकादृष्टिपथे नदन्नयम् ।
मुहुर्मुहुः पादप्रहारपातितो निजं शिरो दर्शयते हि पामरः ॥४८॥

बाद में वह साहस धारण कर गरजता हुआ जगदम्बिका के सामने आया। नीच पैर का ठोकर खा कर गिरने पर भी अपना सिर दिखलाते ही हैं ॥४८॥

गजेन्द्रकुम्भस्रुतरक्तकासवैर्निवृत्ततृष्णो भवतीह यो हरिः ।
विलज्जितो यद्यपि माहिषाक्रमे तथापि युद्धाय समुद्यतोऽभवत् ॥४९॥

जो सिंह गजेन्द्र के मस्तक से निकलते हुए रक्त रूप आसव से प्यास बुझाये हुए रहता है और यद्यपि वह भैंसे पर आक्रमण करने में लज्जित होता है तथापि युद्ध करने के लिए वह तैयार हो गया ॥४९॥

बृहद्विषाणेन हरीश्वरोदरं व्यताडयन्माहिषरूपवानरिः ।
असौ मृगेन्द्रोपि निजाग्रपाणिना तदीयपृष्ठत्वचमाचकर्ष च ॥५०॥

महिष का रूप धारण किये हुए शत्रु ने अपने विशाल सींग से सिंह के उदर में आघात किया । उस सिंह ने भी अपने अगले पंजे से उसकी पीठ के परत को नोंच दिया ॥५०॥

ततो जगन्मोदविधायिनी शिवा शिरस्तदीयं शिवचक्रनेमिना ।
चकर्त रक्तेन समं विनिर्यता सखड्गचर्मा पुरुषोऽर्धनिःसृतः ॥५१॥

तब संसार को आनन्दित करने वाली शिवा ने तीखे चक्र की धार से उसके सिर को काट दिया । उसके गले से निकलते हुए रक्त के साथ ही ढाल-तलवार लिये हुए पुरुष का आधा शरीर निकल पड़ा ॥५१॥

विनिःसरन्तं महिषादथाम्बिकाऽसुरं कचे नागसमावृतेऽग्रहीत् ।
जघान शूलेन उरःस्थलेऽग्रतो निरुद्धमार्गं मृगराजपञ्जरैः ॥५२॥

जगदम्बिका ने महिष से निकलते हुए असुर को गले से माथे तक केश लपेट कर पकड़ लिया और मृगराज रूपी पिंजड़े में जैसे वह असुर बन्ध कर आगे बढ़ने से वंचित कर दिया गया हो, त्रिशूल से कलेजे में मारा ॥५२॥

अचेष्टतासौ महिषः पलायितुं गृहीतकेशस्तु शशाक नो यदा ।
कृतार्तनादः पतितो महीतले सदातनं नेत्रनिमीलनं व्यधात् ॥५३॥

जब वह असुर केश पकड़े जाने के कारण भागने की चेष्टा करने पर भी भाग नहीं सका तो आर्त्तनाद कर भूमि पर गिर पड़ा और सदा के लिए उसने आँखें बन्द कर लीं ॥५३॥

निपतति गतजीवे दैत्यराजे समन्तात्तदनुचरगणास्ते दुद्रुवुर्जातकम्पाः ।
दिवि च सुरवराणां वाद्यवादोद्यतानामभवदति निनादो हर्षजः शङ्किताशः ॥५४

दैत्यराज महिष के मृत हो कर गिर जाने के बाद उसके अनुगामी सब कम्पित हो कर भाग गये । देवगण आकाश में बाजे बजाने लगे जिससे सभी दिशाओं में आश्चर्य, शंका, और हर्ष पैदा हो गया ॥५४॥

जय जय रव उच्चैरुत्थितः सर्वदिग्भ्यः
सुरवनकुसुमानां वृष्टिरच्छिन्नधारा।
स्तुतिभिरपि शिवाया मङ्गलं जातमस्मि-
न्नखिलभुवनमध्ये सौख्यदं सज्जनानाम् ॥५५॥

सभी दिशाओं में उच्च स्वर से 'जय-जय' की ध्वनि उमड़ पड़ी। देवोद्यान के फूलों की अनवरत वृष्टि से पृथिवी आच्छादित हो गई। जगदम्बा की स्तुतियों से सारे संसार के बीच में सज्जनों के सुखदायक मङ्गल होने लगा।।५५।।

मधुरगानसमन्वितनर्तनं ध्वनिरभूद्दिवि तेन मुदान्वितः।
मनुजलोकनिवासिजना भृशं मुमुदिरे विदधुः करतालिकाम् ॥५६॥

आकाश में मधुर गान के साथ नृत्य का रुनझुन होने लगा। इससे मनुष्य लोक के निवासी लोग अत्यन्त आनन्दित हो गये और तालियाँ पीटने लगे ।।५६।।

प्रकृतिरात्मप्रहर्षणलक्षणं विविधपुष्पभरैः प्रकटय्य च।
सकललोकविनोदकरी भृशं प्रणटतीव तदा शुशुभे शुभा ॥५७॥

सुन्दर प्रकृति भी अत्यानन्द का चिह्न अनेक प्रकार के पुष्प समूहों से प्रकट कर सभी लोक को आनन्दित करने वाली हो कर बार-बार नाचती हुई के समान सुशोभित हुई ।।५७।।

इति श्रीदेवीचरिते महाकाव्ये महिषासुरवधो नाम षष्ठः सर्गः।

'श्रीदेवीचरित महाकाव्य' में महिषासुरवध नामक छठा सर्ग समाप्त।

●

सप्तमः सर्गः

अथाऽगमन् सर्वसुरा निरापदो निराकृतेऽशेषसुरारिमण्डले।
क्रुधाऽरुणाक्षीमवलोक्य चण्डिकां भयप्रमोदाभिभवाः प्रतुष्टुवुः ॥१॥

समस्त सुरारिमण्डल के भाग जाने के बाद सब देवगण निरापद हो कर देवी जी के निकट पहुँचे। क्रोध से आँखें लाल की हुई चण्डिका को देख भय के ऊपर हर्ष की विजय होने से नितान्त हर्षित हो कर वे स्तुति करने लगे—॥१॥

तव प्रसादादविता वयं विभो ! क्षयं गतं दैत्यकुलं भयङ्करम्।
न साम्प्रतं किञ्चिदपि प्रवर्तते शिवे ! क्रुधो लक्ष्यमयि प्रभामयि ॥२॥

'अयि (ऐ !) प्रभामयी देवी जी ! आप की कृपा से हमलोग रक्षित हो गये। भयंकर दैत्य-समूह का नाश हो गया। हे शिवे ! अब आप के क्रोध का लक्ष्य कुछ भी नहीं रहा ॥२॥

तदाशु चण्डि ! प्रतिसंहराधुना मुधैव कोपं समयो न तादृशः।
दयार्द्रया स्वीयदृशा समागतान् निजाङ्घ्रिमूले पतितान् विलोकय ॥३॥

'अतः हे चण्डी ! क्रोध को समेट लीजिए। इस तरह क्रोध करने का समय अब नहीं रहा। अपने चरणों में आ कर पड़े हुए हमलोगों को अपनी कोमल दयापूर्ण दृष्टि से देखें ॥३॥

तदैव कोपावसरो हि वर्त्तते विपक्षको नैव यदावशेषितः।
प्रदह्य काष्ठादिचयं क्व तिष्ठति प्रचण्डवह्निर्निजलक्ष्यकं विना ॥४॥

'निश्चय तभी तक क्रोध का समय था जब तक शत्रु-समूहरूप तृण पुंज भस्म नहीं हुआ था। आग की लपट लकड़ी आदि को राख करने के बाद बिना आधार के कहाँ ठहरती है ? ॥४॥

यदाश्रितानामुदयस्य वासरस्तदीशितुः क्रोधमयः कथं भवेत्।
सुतोदयात्किं परमस्ति मातृके ! गृहीतदेहस्य जनस्य सम्मुखे ? ॥५॥

'जब कि अपने आश्रितों का उदय काल चल रहा हो तो उसकी अधिष्ठात्री को क्रोध कैसे हो सकता है ? अतः हे मातृके ! शरीरधारी के सामने पुत्रोदय से बढ़ कर क्या है ?' ॥५॥

अथ प्रसादयितुं जगदम्बिकां विविधवृत्तमयैः स्तवनैर्नवैः।
मुहुरुपाक्रमतार्तिहरां शिवां शिवयुतः सुमनाः सुमनोगणः ॥६॥

बाद प्रसन्नचित्त देव समूह ने शिव जी के साथ कष्ट को दूर करने वाली दुर्गा जी की अनेक प्रकार के छन्दोबद्ध नवीन स्तवनों से बार-बार स्तुति करना आरम्भ कर दिया ॥६॥

प्रथममाह दिगीशगणः क्रमात्प्रकटयन्निजशर्म तदातनम्।
विघटयँस्तदशर्म पुरातनं दनुजवंशकृतं हृदयार्तिदम् ।।७।।

पुरातन दैत्यों के दिये हुए हृदय को पीड़ित करने वाले दुःख को हृदय से हटाते हुए, और इस समय हृदय में जो आनन्द प्राप्त हुआ है उसे प्रकट करते हुए, पहले दिक्पाल लोग बोले—।।७।।

युधि यदैव हता दनुजास्त्वया दिवि मृताः स्वयमेव सुरापदः।
सुकृतिनो न चिरं ददृशुर्दिवं तदधुना विचरन्ति यथा सुखम् ।।८।।

'हे देवि ! जिस समय युद्ध में दानवों को आप ने मार डाला, उसी समय देवताओं की आपत्तियाँ स्वयं समाप्त हो गयीं। बहुत काल से धर्मात्मा लोग स्वर्ग को देख नहीं पा रहे थे; आज वे वहाँ सुख पूर्वक विचरण कर रहे हैं ।।८।।

इति विधापयितुं त्वमलं विधिं समवलोक्य तथापि च नोभयम्।
स्वयमहो दनुजेन्द्रकुलं शिवे ! युधि हतं दिवमेति यतो न तत् ।।९।।

'हे शिवे ! इसी नियम को स्थापित करने के लिए आप ने दोनों को एक जगह नहीं रखा और दानवों को स्वयं मारा जिसमें युद्ध में मर कर वे लोग स्वर्ग नहीं जाएँ ।।९।।

युधि हतो यदि यास्यति दानवः स्वरमितो न वयं सुखितास्तदा।
इति धियैव निहत्य शिवे ! स्वयं दनुभवं कृतवत्यपुनर्भवम् ।।१०।।

'युद्ध में मारे जाने पर यदि दानव स्वर्ग जायेंगे तो हम लोग सुखी नहीं हो पायेंगे। बुद्धि केद्वारा यही निश्चय कर दानवों को स्वयं मार कर उन्हें मुक्त कर दिया कि उनका पुनर्जन्म न हो ।।१०।।

कति समा नु गता दिवि नोऽभवन् कुसुमभारनताः सुरशाखिनः।
न च मनोहरपल्लवभूषिता मधुमुखं ददृशुर्न यतश्चिरम् ।।११।।

'कितने वर्ष बीत गये थे किन्तु कल्पवृक्ष ने स्वर्ग में वसन्त का मुख नहीं देखा था। इस कारण वृक्ष सुन्दर पल्लव से सुसज्जित और फूलों के भार से नम्र नहीं हुआ था ।।११।।

मधुसमागममेत्य च साम्प्रतं धृतपलाशप्रसूनविभूषणाः।
नवलताः सुरशाखिसमश्रिताः सुमनसां मनसां सुखदायिकाः ।।१२।।

'इस समय वसन्त के समागम होने के कारण पलाश के पुष्पों से विभूषित हो कर नवीन लताएँ कल्प वृक्ष से लिपट कर देवताओं के मन को आनन्द पहुँचाने वाली हुईं ।।१२।।

तव पादसरोजकृपा जगदम्ब ! न कं सशिवं कुरुते सुजनम् ।
परिमुक्तविपत्तिरहं वरदे ! ऽभवमत्र विचित्रमिदं किमु तत् ॥१३॥

'हे जगदम्बा ! आप के चरण कमल की कृपा किसे शिव के समान नहीं बना देती है, हे वरदे ! यदि इन्द्र यहाँ पर विपत्ति रहित बन गया तो कौन-सी विचित्रता हुई ? ॥१३॥

न चिराय हविष्यरसो मिलितः श्रुतिपाठपरायणसंप्रहितः ।
अधुना तमवाप्य प्रसन्नमनाः क्रतुजं परिपूर्णफलं प्रददे ॥१४॥

'वेदपाठ में लगे हुए वैदिकों के दिये हुए हविष्य का रस बहुत दिनों से नहीं प्राप्त किया था । इस समय उसे पा कर प्रसन्न मन से यज्ञ का पूर्ण फल मैं दूंगा ॥१४॥

मातस्ते कृपयाधिगम्य जगतां प्राणेश्वरत्वं चिरं
रक्षन् स्वाधिकृतिं कुतश्चिदपि नो भीतो विनाहं त्वया ।
सा दैत्येशप्रभावतो निजदशादोषेण वाऽपाकृता
सम्प्रत्यापमयि ! त्वदीयचरणानुग्राहतस्तां शिवे ! ॥१५॥

'हे माता ! तुम्हारी कृपा से बहुत दिनो तक जगत्प्राण की पदवी पा कर अपने अधिकार की रक्षा करते हुए आप को छोड़ कर मैं किसी से भी डरा नहीं था । वह अधिकार दैत्यराज महिष के प्रभाव से अथवा अपनी दशा के दोष से छिन गया था, परन्तु अयि शिवे ! इस समय आप के चरणों की कृपा से फिर भी उसे मैंने पा लिया है ।।१५॥

ये मद्दण्डभयं विना न भुवने स्वातन्त्र्यमाश्रित्य सद्-
धर्माचारमुपासते सुकृतिनो विद्वेषयन्तेऽनिशम् ।
धर्मध्वंसमतं प्रचार्य च वृथा हिंसां प्रकुर्वन्त्यलम्
मातस्त्वद्दययैव सम्प्रति धृतायोदण्ड आहन्मि तान् ॥१६॥

'मातः ! स्वेच्छाचारी लोग मेरे दण्ड के बिना संसार में सद्धर्म की उपासना नहीं करते थे और धार्मिकों से सदा द्वेष रखते थे तथा धर्म-विरोधी मत का प्रचार कर अत्यन्त वृथा हिंसा करते थे । हे मातः ! इस समय तुम्हारी दया से लोहे का दण्ड धारण कर मैं उन्हें पीटूँगा ॥१६॥

त्वया यो वितीर्णोधिकारोस्ति येषां, तमालम्ब्य ते शेरते ते कृपातः ।
यदायाति तत्राप्युपाधिः कदाचित्क्षयं यात्यसौ तत्क्षणं ते विचिन्ताः ॥१७॥

'पहले तुमने जिन लोगों को जो अधिकार दिया था, उसे पा कर वे लोग तुम्हारी कृपा से निश्चिन्त सोते थे । यदि कदाचित् उनके ऊपर उपद्रव आ जाता था तो वह तत्काल ही नष्ट हो जाता था और वे लोग निश्चिन्त हो जाते थे ॥१७॥

करोतीह यो यादृशं कर्म मातः फलं तस्य सोऽवश्यमेवाधियाति ।
जगद्रोहिणो ? नापि साधारणश्च सहेतेह किं त्वं जगच्छासिकासि ॥१८॥

'हे मातः ! जो जैसा कर्म करता है, उसका फल वह अवश्य ही प्राप्त करता है। क्या साधारण व्यक्ति भी जगद्-द्रोही को सह सकता है ? और तुम तो जगत् के शासन करने वाली हो। (कहाँ तक सहन कर सकती हो ?) ॥१८॥

यन्नो मार्तनिर्मलं तोयमाप्तं लोके लोकैर्विद्रुते दानवेन्द्रैः ।
उद्विग्नं वा नो चिरं मे नितान्तं चेतोऽभूत्कृपातो भवत्याः ॥१९॥

'हे मातः ! संसार में बड़े दानवों के उपद्रव से जिन लोगों ने निर्मल जल नहीं प्राप्त किया था अथवा मेरा मन जो बहुत काल से उद्विग्न हो गया था, आज आप की कृपा से शान्त हो गया है ॥१९॥

यावल्लोके ते चरित्रं विचित्रं गास्यत्यम्ब ! ध्यानतानो जनौघः ।
तावत्तोयं वित्तमन्नं फलञ्च गव्यं मिष्टं लप्स्यते त्वत्कृपातः ॥२०॥

'संसार में जब तक लोग ध्यान लगाकर तुम्हारे विचित्र चरित्र का गान करते रहेंगे तब तक वे लोग जल, धन, अन्न, फल, दूध के पदार्थ और मधुर पदार्थ तुम्हारी कृपा से प्राप्त करते रहेंगे ॥२०॥

दनुजकुलविनाशादाप्तनिश्चिन्ततोहं सकलभुवनमध्ये तर्पयिष्ये जनौघम् ।
नहि बहुसमयं सन्धत्तवान् स्वस्थतां यो विकलहृदय आसीद्दानवत्रासतश्च।२१।

'मैंने बहुत समय तक दानवों के भय से स्वस्थता धारण नहीं कर पाया था और सदा व्याकुल हृदय रहता था। अब मैं दानव-वंश के नाश से निश्चिन्तता धारण कर सारे संसार के बीच लोगों को तृप्त करूँगा ॥२१॥

निजसचिववसन्तप्राप्तपुष्पौघसारो दिशि दिशि रसिकानां मादयन्मानसानि।
तव चरितमुदारं गापयन्सर्वलोकैरविरतगतिरम्बाहं समन्ताद्व्रजामि ॥२२॥

'अपने मन्त्री (या मित्र) वसन्त के दिये हुए पुष्पसार पा कर प्रत्येक दिशाओं में रसिकों के हृदय को मदान्ध करता हुआ तुम्हारे उदार चरित का गान लोगों के द्वारा करवाता हुआ तीव्र गति से मैं सर्वत्र पर्यटन करूँगा ॥२२॥

ये त्वां भजन्ति भुवनेशि नितान्तमत्या
शक्त्या यजन्ति च नमन्ति तथा स्तुवन्ति ।
ते वित्तवन्त इह लब्धसमस्तसौख्याः
संस्थाप्य कीर्तिममलां दिवमाश्रयन्ति ॥२३॥

'हे भुवनेशि ! जो लोग स्थिर चित्त हो कर तुम्हारा भजन करते हैं, शक्ति के अनुसार पूजन करते हैं, प्रणाम करते हैं, तथा स्तुति करते हैं, वे लोग धनवान् होकर, सभी सुखों को भोग कर, इस संसार में निर्मल कीर्ति स्थापित कर, अन्त में स्वर्ग में वास करते हैं ।२३॥

वित्तेश्वरत्वमवलम्ब्य जगन्नमस्ये ! त्वत्पादपद्मकृपया सुखितोहमद्य ।
त्वत्सेवकान् धनवतः सततं विधास्येऽतो देवि ! सर्वसुखभोगपरायणास्ते ॥२४

'हे जगद्वन्द्य मातः । आज मैं तुम्हारे चरण कमल की कृपा से धनेश का पद पा कर सुखी हुआ । तुम्हारे सेवकों को बराबर धनवान् बनाऊँगा । इससे हे देवि ! वे लोग सभी सुखों का भोग कर सकेंगे ॥२४॥

यदा ते जाता वै भुवनरचनायै स्वहृदये
विधिर्भूत्वा तोये परमतपसा प्राप्तधिषणः ।
निदानं तत्त्वानामुपचितजलौघात्परतर-
मुपादायानन्त्यात्सृजसि सचरञ्चाचरमिदम् ॥२५॥

'जब तुम्हारे हृदय में संसार की रचना के लिए भाव पेदा होता है तो तुम ब्रह्मा के रूप में हो कर जल ही में कठिन तपस्या के द्वारा सुबुद्धि प्राप्त कर तत्त्वों के बीजों को ले कर जल समूह से ढूढ़ निकालती हो और सचराचर के साथ इस संसार का निर्माण करती हो ॥२५॥

अतस्त्वं भूतानां सकलभुवने जातजनुषां
निदानं सर्वेशि ! प्रथितनिजशक्तिर्ध्रुवमसि ।
स्तुवन्तु त्वां किं ते कथमुपहरन्तूपहरणं
न शक्तिं स्वां बालः प्रथयति जनन्या हि सविधे ॥२६॥

'इसलिए हे मातेश्वरी ! सभी लोकों में जन्म धारण करने वालों के आदि कारण तुम ही हो, और यह तो प्रसिद्ध ही है कि तुम स्वयं शक्तिरूपा हो । अतः वे लोग तुम्हारी स्तुति क्या कर सकते हैं और तुम्हें उपहार भी क्या दे सकते हैं ? माता के सामने निश्चय ही बालक अपनी शक्ति नहीं प्रगट करता है ॥२६॥

भवच्छक्त्या विष्णुर्भुवनभरणप्राप्तमहिमा-
ऽन्यथाशक्तिह्रासे जगति जलरूपे च भवति ।
त्रपायुक्तो लीनो जलधिजलमध्ये ननु वसन्
विषण्णः शेते साववति तममुत्रापि भवती ॥२७॥

'हे देवि ! विष्णु आप की ही शक्ति से संसार के भरण-पोषण की महिमा प्राप्त करते हैं । अन्यथा शक्ति के ह्रास होने पर, अर्थात् जब (तुम्हारी इच्छा से) सृष्टि जलमग्न हो जाती है तब, वे लज्जा के मारे पानी में छिप कर वास करने लगते हैं और सोचते-सोचते विषण्ण हो कर सो जाते हैं ॥२७॥

यदाधारं मत्वा स्थिरतरमहो चञ्चलमपि
मनुष्या किञ्चिन्नाचरितुमवशिष्यन्ति दुरितम् ।
तदाधारः शेषो यदि भवति भवतीमपि विना
न किं नागं लोका विदधति भरोत्थापनकरम् ॥२८॥

'मनुष्य लोग अस्थिर भूतल को भी अत्यन्त स्थिर अपना आधार मान कर कुछ भी पाप करना बाकी नहीं रखते हैं। उस भूतल के आधार होने में शेषनाग यदि आप के विना भी अपना बल मानें तो लोग क्यों नहीं अपने भार को उठाने वाले बना लें ॥२८॥

ममात्र ग्रीवायामहिपतिरयं भूषणमयः
किमेतज्जातीयो भुवनभरधारोद्यतबलः।
यदीत्थं तोयेपि प्रतरति न किं भूधरवरो-
ऽथवा किन्न व्योम्नि स्फुटति कुसुमं चित्रजनकम् ॥२९॥

मेरे गले में जो साँप श्रेष्ठ भूषण के रूप में है—क्या इसी की जाति वाले शेषनाग भूमण्डल के भार को उठाने में समर्थ बलशाली हैं ? यदि ऐसा है तो पानी में पहाड़ क्यों नहीं तैर सकता है अथवा विचित्रतोत्पादक आकाश में फूल क्यों नहीं खिल सकता है ?॥२९॥

यदीच्छेस्त्वं दुर्गे ! कमलमुकुले तिष्ठतु मही
न धत्तां शेषस्त्वदुपहितशक्तिगुरुतनुः ।
न तत्रानङ्गोसौ मृदुलकुसुमायुधकरो
जयन् सर्वान् लोकान् घटयति प्रमाणं स्फुटतरम् ॥३०॥

'हे दुर्गे ! यदि तुम चाहो कि कमल की कली पर पृथ्वी का खड़ा रहना असम्भव नहीं; ये शेषनाग जी तो मोटे एवं बलिष्ठ शरीर के हैं—इसका तो प्रबल प्रमाण है—अनङ्ग होते हुए भी कामदेव फूल का बाण हाथ में लेकर संसार को जीते हुए हैं ? ॥३०॥

महेशत्वं यातो यदहमिति चित्रं न किमिदं
यदीशे सम्भाव्यं किमिति गिरिवासेस्ति सकलम् ।
यथा वा नग्नत्वे मृतकनरमुण्डस्रजि पुनः
श्मसानावासे वा करधृतकपाले त्रिनयने ॥३१॥

'हे देवि ! कोई मेरे जैसा व्यक्ति महा ईश भी बन जाय यही क्या कम आश्चर्य की बात है ? क्या ईश बनने के लिए आवास होना चाहिए खुला विस्तृत पहाड़ ? क्या उसके लिए चाहिए यह नग्नता ? क्या हाथ में चाहिए नरकपाल में श्मशान का भस्म ? क्या उसके लिए चाहिए विरूप तीन आँखें ? ॥३१॥

परं यद्देवेशः किमुत नरनाथो मम पुरः
प्रभो शम्भो शम्भो ! कथयति समिच्छन् दरकृपाम्।
तदिष्टं तत्तूर्णं सुतनु घटये दुर्घटमपि
त्वदीया शक्तिः सा विलसति न चान्यत्किमपि मे ॥३२॥

'परन्तु हे देवि ? नरेश क्या ? सुरेश भी मेरे सामने आ कर यह कहते रहते हैं—"हे प्रभो ! शम्भो ! शम्भो ! थोड़ा कृपा चाहिए ।" तो हे सुन्दरि ! मैं उनके दुर्लभ अभीष्ट को भी तुरन्त पूर्ण कर देता हूँ । वह तुम्हारी शक्ति का खेल है, मुझमें क्या है ? ॥३२॥

यदा कर्णे शब्दो विशति मम शम्भो हर इति
न पार्श्वे दातव्यं किमपि प्रसमीक्ष्योत्सुकतया ।
स्मरामि त्वां शक्ते ! तदनु वितरामीष्टमपि यत्
कृपा चेत्ते न स्याद्भवतु वद कीदृङ् मम दशा ॥३३॥

'हे देवि । जिस समय मेरे कान में "शम्भो ! हर !" ये शब्द घुसते हैं तो प्रसन्न हो कर देने के लिए उत्सुक हो जाता हूँ, तो देखता हूँ कि मेरे पास देने योग्य है ही क्या ? तो हे शक्ति ! मैं तुम्हें स्मरण करता हूँ और उसका अभीष्ट प्रदान करता हूँ । यदि तुम्हारी कृपा न हो तो उस समय हमारी दशा कैसी हो जाय ?' ॥३३॥

मुनयस्तुष्टुवुः सर्वे विद्याधरसमन्विताः ।
किन्नराश्च जगुः कीर्तिं ननृतुश्चाप्सरोगणाः ॥३४॥

इसके बाद विद्याधरों के साथ हो कर मुनियों ने स्तुति की । किन्नर यशगान करने लगे । अप्सरायें नाचने लगीं ॥३४॥

जगज्जयस्वरूपिणि ! जगज्जयप्रसाधिनि ।
जगज्जयप्रकारिणि ! जगज्जयेऽस्तु ते नमः ॥३५॥

'हे देवि ! तुम जगत् में विजय-रूप धारण करने वाली हो, जगत् में विजय के मुख्य साधन हो, जगत् में विजय करने वाली हो; अतः हे जयारूपा दुर्गे ! तुम्हें प्रणाम है ॥३५॥

जगद्विधानकारिणि ! जगन्निधानसाधनि ।
जगत्प्रधानधारिणि ! जगद्धितेऽस्तु ते नमः ॥३६॥

'हे देवि ! तुम जगत् का निर्माण करने वाली हो, संसार में निधान को पूर्ण करने वाली हो, संसार में जो प्रधान कहलाने वाले हैं उनकी रक्षिका तुम ही हो। इसलिए हे जगत्-हित-रूप ! तुम्हें प्रणाम है ॥३६॥

जगद्विरोधिनाशिनि ! जगत्प्रबोधभासिनि ।
जगत्प्रमोददायिनि ! जगत्प्रियेस्तु ते नमः ॥३७॥

'हे देवि ! तुम संसार से विरोधियों को नाश करने वाली हो, संसार के असली ज्ञान को देने वाली हो, संसार को प्रसन्न रखने वाली हो, संसार की प्रियरूपा हो; तुम्हें नमस्कार है ॥३७॥

जगच्छिवस्वरूपिणि ! जगच्छिवप्रदायिनि ।
जगच्छिवाङ्गवासिनि ! जगच्छिवेस्तु ते नमः ॥३८॥

'हे देवि ! तुम संसार में शिवस्वरूप हो, संसार में मंगल करने वाली हो, संसार में शिवजी के अङ्ग में निवास करने वाली हो, संसार में शिवारूप से वर्तमांन तुम्हें प्रणाम है ॥३८॥

जगत्सुपूज्यपूजिते ! जगन्नमस्यसंस्तुते ।
जगन्निदानकारणस्वरूपिणी नमोस्तु ते ॥३९॥

'हे देवि ! संसार के अत्यन्त पूजित लोगों से भी तुम पूजित हो, संसार के प्रणम्य लोग भो तुम्हारी स्तुति करते हैं, संसार के आदि कारण रूप से तुम्हीं वर्तमान रहती हो; अतः तुम्हें प्रणाम है ॥३९॥

तेऽम्ब यशो विमलं विपुलं शत्रुविनाशभवं भुवनम् ।
व्याप्तदिगन्तमनन्तप्रभं सम्प्रति नाकमितं विततम् ॥४०॥

'हे माता ! शत्रु-विनाश से उत्पन्न निर्मल, विस्तृत एवं प्रभावशाली यश अनन्त दिगन्त में व्याप्त हो कर इस समय स्वर्ग में तमाम फैल गया है ॥४०॥

कस्तव कीर्तिमयि ! प्रथितां गातुमिह प्रभवेद् भुवने ।
यज्जगदीश्वरि वाक्त्वमसि सैव च गापयितुं प्रभवा ॥४१॥

'अयि जगदीश्वरी ! संसार में फैली हुई विख्यात तुम्हारी कीर्त्ति का गान करने में कौन समर्थ हो सकता है, जब कि तुम्हीं वाणीरूप हो ? वह वाणी ही तो गाने का मुख्य साधन है ॥४१॥

यत्तव शक्तिवशादविता तत्प्रतिरूपमिदं स्तवनम् ।
न क्रियते जननीसुतयोर्नोचित एष विधिर्विकृतः ॥४२॥

'हे जगदम्बा ! आप की शक्ति से जो हमलोगों ने त्राण पाया है, उसी के वर्णन में ही तो यह स्तुति है। पुत्र द्वारा माता की स्तुति अनुचित एवं विकृत प्रतीत होती है ॥४२॥

किन्तु न रोद्धुमलं प्रसभं कोपि समुद्यदुरोविषयम् ।
यत्पुरतः प्रहितं स्तवनं तद्धृदयस्थितभावफलम् ॥४३॥

'किन्तु हे देवि ! हृदय में जो भाव पैदा हो जाता है, उसे एकाएक रोकने में कोई भी समर्थ नहीं हो सकता । आप के समक्ष मैंने जो स्तुति की है वह हृदय-स्थित भाव का ही फल है ॥४३॥

यन्न महापुरुषा प्रभवो गातुमलं विपुलं सुयशः ।
किम्पुरुषा वयमम्ब ! तथा त्वत्कृपयाप्तसुरत्वबलाः ॥४४॥

'हे माता ! आपके विस्तृत सुयश का गान करने में महापुरुष लोग भी समर्थ नहीं हो सकते, हमलोग तो किंपुरुष हैं। आप की कृपा से ही हमलोगों ने देवत्व का बल प्राप्त किया है ॥४४॥

हे हे श्री जगदम्ब वयं कृपया तव लोकम् ।
विद्ध्महे ननु सकलं तूर्णतरं गतशोकम् ॥
मन्नूपुररवलवो पतति कर्णे लघु यस्य ।
भ्राम्यति मस्तकमुरस्तथा विचलति मृदु तस्य ॥४५॥

'हे हे श्री जगदम्ब ! हमलोग तुम्हारी कृपा से सारे संसार को अति शीघ्र शोक-रहित बना देते हैं । मेरे घुंघरू की आवाज लेशमात्र भी जिसके कान में पड़ जाती है, वह झूम उठता है और उसका कोमल हृदय चंचल हो जाता है ॥४५॥

वलयध्वनियुतपाणितालमाकर्ण्य को जनः ।
आयत्तं न करोत्यरं सवसु हृदयं स्वं नः ॥
मन्दस्मितशरजालयन्त्रितो जडयति गात्रम् ।
वक्रदृष्टिप्रहृतो न भवति सुखशान्तिसुपात्रम् ॥४६॥

'जिस समय कोई भी कंगन और चूड़ियों के झंकार के साथ तालियों की आवाज सुन लेता है, तो वह अतिशीघ्र धन के साथ अपने हृदय को भी हमलोगों के अधीन बना देता है । हे माता ! मन्द मुस्कानरूपी बाणों से घिर कर वह अपने शरीर को जकड़ा हुआ अनुभव करता है एवं वक्र दृष्टि से आहत होकर सुख-शान्ति खो बैठता है ॥४६॥

गानतानतरलान्तरा न पलमपि तिष्ठन्ति ।
प्रेतावेशयुता इवेह परितो विचरन्ति ॥
अस्मदीयकृपया विना वृथा स्वं मन्यन्ते ।
ईषत्कृपाकटाक्षजीविता मुदं लभन्ते ॥४७॥

गान-तान से चंचलहृदय हो कर क्षणमात्र भी लोग एक जगह नहीं रहते और जैसे प्रेत लग गया हो, चक्कर काटते रहते हैं; हमलोगों की कृपा के बिना

अपने को व्यर्थ मानते हैं और थोड़ी-सी भी कृपा-कटाक्ष से हमलोगों के द्वारा देख लेने पर वे आनन्दित हो उठते हैं ।।४७।।

मोहनादिवरशक्तिमतीरवलोक्य जना नः ।
त्वद्रूपा अनुमाय सदा क्रियते तैर्मानः ।।
एवमादृता जगत्सु जातास्त्वत्कृपयैव ।
अतो विधेयास्मासु मुदा जगदम्ब सदैव ।।४८।।

'मोहन आदि उत्तम शक्तियों से सम्पन्न हमलोगों को देख कर वे लोग वैसा ही आदर देते हैं । इस प्रकार, हे माता ! संसार तुम्हारी कृपा से ही आदृत हो गया है । इसलिए हे जगन्माता ! बराबर हमलोगों पर आनन्द के साथ वैसी ही कृपा बनायी रहेंगी' ।।४८।।

इत्थं गानपुरस्सरं लययुतस्तालान्वितो मञ्जुलो
वीणावेणुमृदङ्गकांस्यसहितः सत्किङ्किणीमिश्रितः ।
ध्वानः कोपि मनोहरः समभवत्सन्मानसं मोदयन्
श्रुत्वा तं जगदम्बिका विगतकोपा सुप्रसन्नाऽभवत् ।।४९।।

इस प्रकार गाना के साथ लय और ताल से मिला हुआ, जिसमें वीणा, वंशी, मृदंग, कंसी तथा घुंघरू की आवाज भी मिली हुई थी, कोई एक मनोहर ध्वनि अच्छे लोगों के मन को आनन्दित करती हुई गूँज उठी । उस ध्वनि को सुन कर जगदम्बिका विगतकोपा और अत्यन्त प्रसन्ना हो गईं ।।४९।।

देवी प्रसन्नाऽवनतान् विलोक्य देवानृषीन् किन्नरवर्गयुक्तान् ।
उवाच किं त्रासमिता भवन्तस्त्यजन्तु चिन्तां सुखिनो भवन्तु ।।५०।।

प्रसन्न हुई देवी जी किन्नर आदि वर्गों से युक्त देवता और ऋषियों को विनम्र देख कर बोलीं—'आपलोग भय क्यों माने हुए हैं ? छोड़िये चिन्ता और सुखी होइए ।।५०।।

सर्वे स्वकर्मार्जितमेव लोके फलं लभन्ते नियतं नियत्या ।
भूतद्रुहो नाशमवाप्नुवन्ति परोपकारे निरताश्च शर्म ।।५१।।

'संसार में सभी लोग अपने कर्मानुसार नियति से निश्चित फल पाते हैं । इसी से प्राणियों के साथ द्रोह करने वालों का नाश होता है और परोपकार में लगे हुए लोगों को सुख-शान्ति मिलती है ।।५१।।

क्षयं गता दैत्यगणाः सगर्वा मुदङ्गताः सन्तु भवन्त आशु ।
भयङ्गता जातुचिदन्यतः स्युः सुसङ्गता माञ्च तदा स्मरन्तु ।।५२।।

'दैत्य लोग सगर्व होने से नष्ट हुए; आप लोग शीघ्र ही आनन्द प्राप्त करें । यदि कभी भी किसी ओर से भय प्राप्त करें, तो मेरे निकट आ कर मिलें और मुझे स्मरण करें' ।।५२।।

इत्थं निगद्य बहुशः परितोष्य सर्वानन्तर्हिता भगवती भवभीतिहर्त्री ।
देवा ययुश्च सकला निजधाम तूर्णं प्रापुर्निजाधिकरणं जननीप्रसादात् ॥५३॥

इस प्रकार बहुत तरह से कह कर और सन्तोष दे कर जगदम्बिका अन्तर्ध्यान हो गईं । सब देवता लोग शीघ्र ही अपने स्थान पर चले गये और माता की कृपा से अपने-अपने अधिकार को उन लोगों ने पा लिया ॥५३॥

इत्थं दयालुमपहाय जगन्नियन्त्रीं
कोन्यां श्रयेत कुमतिर्जननीं विमूढः ।
दत्ते पिता सुतजनाय विविच्य किञ्चि-
न्माता न चिन्तयति पात्रमपात्रकं वा ॥५४॥

इस प्रकार जगत् का नियन्त्रण करने वाली दयालु माता को छोड़ कर कौन अत्यन्त कुबुद्ध एवं मूढ़ व्यक्ति होगा जो दूसरे का आश्रय करेगा ? पिता तो पुत्रों को खूब सोच-विचार कर कुछ देते हैं, किन्तु माता सुपात्र-कुपात्र का विचार ही नहीं करती ॥५४॥

तस्मात् सदा बुधजना जननीं स्मरन्तु
ध्यायन्तु शुद्धमनसा च समर्चयन्तु ।
चेद्वाञ्छथेह सुखिनो भवितुं नितान्तं
नातः परं किमपि साधनमस्ति किञ्चित् ॥५५॥

इसलिए हे बुद्धिमान् लोग ! शुद्ध मन से माता का स्मरण, ध्यान तथा पूजन करें । यदि चाहते हैं कि बराबर सुखी रहें, तो इससे बढ़ कर कोई दूसरा साधन नहीं है ॥५५॥

इति श्रीदेवीचरिते महाकाव्ये महिषमर्दिन्या देवादिकृतस्तवनो नाम सप्तमः सर्गः ॥

'श्रीदेवीचरित महाकाव्य' में महिषमर्दिनी की देवादिकृतस्तुति नामक सप्तम सर्ग समाप्त ॥

अष्टमः सर्गः

कालक्रमेणाथ सुराधिकारानाछिद्य वीर्यातिशयेन दत्यौ ।
निशुम्भशुम्भावतिदर्पवन्तौ प्रचक्रमाते स्वयमेव भोक्तुम् ॥१॥

बहुत दिन बाद निशुम्भ और शुम्भ नामक दो दैत्यों ने अत्यन्त बलशाली होने के कारण महान् अहंकारी हो कर देवताओं के अधिकार को छीन कर उसे स्वयं भोगने के लिए उपक्रम किया ॥१॥

तद्दुष्टभृत्यैर्बहुधोपतप्ताश्चक्रुः कदाचिद्विबुधा विमर्शम् ।
पारं व्रजेमाशु कथं विपद्भ्यस्त्रातुञ्च सम्प्रत्यलमस्ति को नः ॥२॥

उनके दुष्ट भृत्यों से अत्यन्त प्रतप्त हो कर देवताओं ने किसी समय परस्पर विमर्श किया कि इस महान् विपत्ति को हमलोग कैसे पार करेंगे ? इस समय शीघ्र हमारी रक्षा करने के लिए कौन समर्थ है ? ॥२॥

निःशब्दलेशे विबुधेन्द्रसङ्घे गुरुः समुद्यम्य करं जगाद ।
माशोचतालं धरताद्य धैर्यं ।ःगरञ्च स्मरतामरेन्द्राः ॥३॥

जब सभी देवगण मौन रह गये, तो देवगुरु हाथ उठा कर बोले—'हे देवताओ ! चिन्ता मत कीजिए; अभी धैर्य धारण कीजिए । देवी जी के वचन को स्मरण कीजिए ॥३॥

यदा कदाचिद्भुवनेष्वदोषः सन्ताप्यतेऽकारणमेव कश्चित् ।
स्मृता तदा रक्षति चण्डिका तं सत्त्राणदा दुष्टविनाशकर्त्री ॥४॥

'जब कभी किसी भी लोक में कोई निर्दोष अकारण सताया जाता है, तो स्मरण मात्र से ही चण्डिका उसकी रक्षा करती है, क्योंकि वह सज्जनों को त्राण देने वाली और दुष्टों का विनाश करने वाली है ॥४॥

शेते यदुत्सङ्गतले सदैव स्वैरं समग्रं भुवनं सुरेशाः ।
रक्षत्वजस्रं खलु तद्विनिद्रा सा किन्न नस्त्रास्यति संस्मृतापि ॥५॥

'हे महान् देवताओ ! सम्पूर्ण भुवन जिसकी गोद में सदा निश्चिन्त हो कर सोता है, वही जागरूक रह कर उसकी रक्षा करती है, तो क्या हम लोगों की भी रक्षा केवल स्मरण मात्र से वह नहीं करेंगी ? ॥५॥

इतीरयत्येव गुरौ तदानीं प्रमोदपूरस्फुरदब्जवक्त्राः ।
सुराः समुत्थाय शशंसुरुच्चैर्वयं तया त्राणमवापिताः स्मः ॥६॥

गुरुवर के ऐसा कहते ही देवताओं के मुख-कमल आनन्द से खिल गये और वे लोग खड़े हो कर बोले—'बस, हम लोग उनके द्वारा सुरक्षित हो गये' ॥६॥

ततस्तु सर्वे मुदितान्तरङ्गा नगाधिराजं विबुधाः समीयुः ।
तत्रत्यशोभामवलोकयन्तः समुत्सुका देव्यवलोकनाय ॥७॥

इसके बाद प्रसन्न हृदय हो कर देवता लोग हिमालय पर चले गये। वहाँ की शोभा देखते हुए देवी जी के दर्शनों के लिए उत्सुक हो गये ॥७॥

पितुः शिरः प्रेक्ष्य समुन्नतं स्वां निगूहमानामिव वल्लिवस्त्रैः ।
पतिं प्रयान्तीं नु नगेन्द्रकन्यां मन्दाकिनीं ते ददृशुः सुरेशाः ॥८॥

देवताओं ने देखा कि पति के पास जाती हुई गिरिराज की पुत्री गंगाजी अपने पिता के सिर को ऊँचा देख कर जैसे लता रूपी वस्त्रों से अपने को छिपा रही हैं ॥८॥

क्वचिन्नमन्तीं जनकाग्रपादा ऊर्ध्वं स्फुरत्स्वच्छजलाम्बराभाम् ।
क्वचिच्छिलां स्वां सहजां तरङ्गैर्भुजैश्च सस्नेहमिवामिलन्तीम् ॥९॥

कहीं पर अपने पिता के चरणाग्रभाग को प्रणाम करती हैं (पाद चरण तथा पहाड़ के आस पास के छोटे-छोटे पहाड़ को कहते हैं—पादाः प्रत्यन्तपर्वताः), जिसके ऊपर स्वच्छ जल की आभा चमक रही है; कहीं पर जान पड़ता है कि अपनी बहनों (चट्टानों) के साथ भुजा रूपी तरङ्गें सस्नेह मिलती हुई जा रही हैं ॥९॥

क्वचित्तथोच्चैः रुवतो नु वृक्षान्नदत्पतङ्गैरवलोक्य यान्तीम् ।
अपि त्यजन्ती प्रति शीकरास्रं शनैः कलध्वानकरीं प्रसन्नाम् ॥१०॥

तमाम पक्षीगण जो उच्चै शब्द कर रहे हैं वह जान पड़ता है कि गंगाजी के भाई वृक्ष सब उनकी विदाई के समय रो रहे हैं और गंगाजी उन्हें देख कर जलकण रूपी आँसू बहाती हुई तथा धीरे-धीरे शब्द से रोती हुई प्रसन्नता पूर्वक जा रही हों ॥१०॥

पातुं समायान्ति मृगाः यदम्भो मिलन्ति तां भर्तृगृहं प्रयान्तीम् ।
अनोकहाश्चापि निजानुबिम्बैः सौभ्रात्रमाविर्विदधत्यभीक्ष्णम् ॥११॥

जो हरिण गंगा का जल पीने उसके निकट आते थे, वे आज उसे पति के घर जाते समय उससे मिल रहे हैं तथा वृक्ष भी अपने प्रतिबिम्बों के माध्यम से अपना भ्रातृभाव प्रकट कर रहे हैं ॥११॥

नीलोच्चशृङ्गप्रतिबिम्बयोगाद्यन्नीलिमा क्वापि विलोक्यतेऽत्र ।
तत्सूर्यजा तां परिरब्धुकामा समागतेव प्रति भाति नूनम् ॥१२॥

पहाड़ के नीचे और ऊँचे शिखर के योग से गंगाजल के आधे भाग में जो नीलिमा पड़ रही है जान पड़ता है कि यमुना जी पतिगृह जाती हुई बहन गंगा जी से चिपक कर मिल रही हैं ॥१२॥

प्रातर्यदत्रारुणिमा विभाति सा स्वानुरागं प्रकटीकरोति।
यद्वात्र वाणी मिलितुं गतेव बहिर्वसानाऽरुणमम्बरम्बा ॥१३॥

(गंगाजी के जल में) प्रातः कालीन लाली ऐसी जान पड़ती है मानो सरस्वती नदी अपना प्रेम प्रकट कर रही हैं, अथवा गंगाजी लाल साड़ी पहन कर ससुराल जाते समय सरस्वती से मिलने आई हैं ॥१३॥

सद्वज्रमुक्तावलिपूरिताङ्कपटाञ्चला तत्प्रभयानुशुभ्रा।
रिङ्गत्तरङ्गोच्छलदच्छबिन्दुः पुरः प्रमोदात्प्रयता प्रयाति ॥१४॥

जान पड़ता है कि साड़ी और दुपट्टे के आंचल में हीरे, मोती आदि टंके रत्नों की आभा से उनका शरीर अत्यन्त चमत्कृत हो रहा है तथा उछलती हुई तरंगों के जल-कण ले कर वह अत्यन्त आनन्द के साथ आगे बढ़ रही हैं ॥१४॥

सत्त्वं दधाना नु समस्तरत्नव्यूहस्य भूभृद्वरसंस्थितस्य।
स्वसेवकानामखिलर्क्षजन्यं दोषं विलुम्पन्त्यभियाति सिन्धुम् ॥१५॥

अनेक रत्नों के समूह हिमालय के सत्त्व को गंगाजी ने इसलिए धारण कर लिया है कि जो लोग उनका सेवन करेंगे, उनके सारे ग्रह-नक्षत्र जन्य दोष को दूर कर वह समुद्र में मिलेंगी ॥१५॥

सारं नु गृह्णन्त्यखिलौषधीनां नगस्थितानां व्रजति प्रमोदात्।
निर्मुक्तरोगान्निजसेवकांस्तज्जनान् विधत्ते जननीव गङ्गा ॥१६॥

गंगाजी हिमालय पर स्थित सभी औषधियों के सार ग्रहण कर माता की तरह अपने सेवकों को समस्त रोगों से मुक्त करने की इच्छा से सानन्द जा रही हैं ॥१६॥

सञ्जीवनीसारमिवाददाना प्रयाति मर्त्यान्निजवारिभाजः।
प्रसह्य कुर्वंत्यमरान् स्वकीयप्रभावमुग्रं प्रकटीकरोति ॥१७॥

गंगाजी संजीवनी महौषधि के सार को ले कर चलती हैं, जिससे मर्त्यलोक के निज जल सेवी को वह अमर (मुक्त) बना देती हैं; इससे उनका प्रबल प्रभाव प्रकट होता है ॥१७॥

सिद्धेश्वराराधितभूधरेशाज्जाता ततः सिद्धिकरी जनानाम्।
सहोदरत्वादपराजितायाः करोति पुंसोप्यपराजितान् सा ॥१८॥

सिद्धेश्वरों से पूजित हिमालय से उत्पन्न होने के कारण गंगा (अपने तट-वासी) लोगों को सिद्धि प्रदान करती हैं और अपराजिता की बहन होने के कारण मनुष्यों को भी अपराजित बना देती हैं ॥१८॥

वत्सो बभूवैष कदाचिदुर्व्यास्ततो ध्रुवं सङ्गतवानुरुत्वम् ।
वसुन्धरायाश्च वसुन्धरत्वं हेतोर्गुणं कार्यमुपैति नूनम् ॥१९॥

कभी यह हिमालय गोरूपधारिणी पृथ्वी का बच्चा बना था। (पृथ्वी का नाम उर्वी है और वसुन्धरा।) अतः संगति के कारण हिमालय में भी उरुत्व और वसुन्धरत्व आ गया है, क्योंकि कारण के गुण कार्य में आ ही जाते हैं ॥१९॥

अस्यैकदेशं श्रयते महेशः स्वर्गौकसाञ्चापि महेश्वरोऽसौ ।
स्वर्गप्रदेशान्न भवेत्किमुच्चैर्मृषा कवीनां न वचःप्रगल्भम् ॥२०॥

महादेव जी इसके एक भाग पर निवास करते हैं और वे स्वर्गवासियों के भी ईश हैं, तो यह हिमालय स्वर्ग से भी उच्च क्यों न हो? यह कवियों की प्रौढ़ोक्ति मात्र नहीं है ॥२०॥

रविः करैः स्वैर्न हरेत्कदाचिद्रत्नौघमस्योन्नतशृङ्गसंस्थम् ।
यतो नु तन्मध्यगतः खरांशुर्विलीयते न क्षमतेऽपहर्तुम् ॥२१॥

सूर्य हिमालय के सबसे ऊँचे शिखर से रत्नों को अपने विस्तृत करों के द्वारा जो नहीं चुरा पाते हैं इसका कारण है कि उस शिखर से नीचे ही रह कर अस्त हो जाते हैं ॥२१॥

सम्प्रार्थ्यमानो नु निजाङ्गनाभिर्भयाच्छिवस्य ग्रहणाच्छशाङ्कः ।
प्रयाति नो तच्छिखरं सुपूज्यं मत्वाऽथवा तत्पदमभ्युपैति ॥२२॥

अपनी पत्नियों के द्वारा प्रार्थना किये जाने पर भी चन्द्रमा भय से शिवजी के सिर-स्थित चन्द्रमा को लेने (माँगने) उनके सुपूज्य शिखर पर नहीं जाते; अथवा यह मान कर नहीं जाते कि उस शिखर को अपने पादों (किरणों) से कैसे स्पर्श करें ॥२२॥

यद्वा रवीन्दू शिवसद्म पुण्यं पदैः स्वकीयैः किमु दूषयेताम् ।
नगाधिराजस्य शिरोपि पूज्यं ततो न तल्लङ्घयितुं क्षमेते ॥२३॥

अथवा सूर्य और चन्द्रमा अति पावन शिवसद्म को अपने चरणों से छू कर कैसे दूषित करें और हिमालय का सिर भी तो पवित्र है; उसे उल्लंघन कर उसका अपमान कैसे कर सकते हैं? ॥२३॥

जगज्जनन्याः पितरं कथं वा विलङ्घयेत्कोपि पदैः स्वकीयैः ।
ततस्तथोच्चैर्नु कृतो विधात्रा ददात्यलङ्घ्यत्वमपि स्वभाजाम् ॥२४॥

अथवा जगदम्बा के पिता का कोई अपने पैरों से कैसे लंघन कर सकता है? इसी कारण विधाता ने उन्हें (हिमालय को) उतना ऊँचा बना दिया है कि अपने निकटवासियों के लिए भी अलंघ्य कर दिया है ॥२४॥

अमूल्यरत्नानि विभाव्य तत्र न वर्षतीनो वसुसङ्घमुग्रम् ।
यद्वा प्रभावं परिमृश्य तस्य दधाति जाड्यं न सरन् समग्रः ॥२५॥

वहाँ सूर्य वसु (धन, किरण) की वर्षा जो नहीं करते हैं वह यह सोच कर कि उस पर तो स्वयं रत्न आदि धन भरा हुआ है अथवा हिमालय के प्रभाव को समझ कर आगे पूर्ण रूप से बढ़ने में जड़ता धारण करते हैं ॥२५॥

माणिक्यशृङ्गेन रवेर्महत्त्वं निलीयते तस्य ततो न धर्मः ।
समग्ररूपो विदधाति तापं तद्रत्नधृङ् नो व्यथते ततो यत् ॥२६॥

उसके उच्च शिखर पर माणिक्य है और माणिक्य सूर्य ग्रह का धारण रत्न है। उसी के कारण न तो वहाँ धूप का प्रभाव है, न ताप का; माणिक्य पहनने वाले पर सूर्य का बुरा प्रभाव नहीं पड़ता है ॥२६॥

रवेर्न सम्पर्कमवाप्य वल्ल्यो वृक्षाश्रिताः स्युः सफलाः सपुष्पाः ।
पवित्रभूमौ न भवेत्कलङ्कस्ततो न घर्मांशुरुपैति रक्तः ॥२७॥

उस पर वल्लियाँ पुष्पिणी (रजस्वला) होती हुई भी फलवती (पुत्रवती) हो जायेंगी; पुण्यभूमि में कलंक नहीं आने पावे, इसी कारण उदयकालीन रक्त (अनुरागी) सूर्य उच्च शिखर पर नहीं पहुँच पाते हैं ॥२७॥

सम्पूर्णरत्नानि यदत्र सन्ति न तद्ग्रहाणां चलति प्रभावः ।
अतो न पुष्पं परिलक्ष्यते तत् कुजेन्दुयोगात्स्रवते यदेतत् ॥२८॥

इस पर सभी रत्न वर्तमान हैं, इसी कारण यहाँ ग्रहों का प्रभाव नहीं पड़ता है; इसी से यहाँ पर पुष्प के दर्शन ही नहीं होते क्योंकि पुष्प (आर्तव) का योग मंगल और चन्द्रमा के योग से होता है ॥२८॥

सम्पन्नशाखास्तरवो व्रतत्यो न दृष्टिमायान्ति घनाः समन्तात् ।
लघुस्वरूपाः सुविकाशमानाः सञ्जीवनीर्वीक्ष्य महौषधीनु ॥२९॥

यहाँ पर छोटी-छोटी प्रकाशमान सञ्जीवनी आदि महौषधियों को देख कर ही बड़े-बड़े वृक्ष एवं लम्बी-लम्बी लताएँ सर्वत्र नहीं दीख पड़तीं ॥२९॥

तेजस्विनां सोस्ति निवासभूमिरेतेन बुध्येत जडा व्रतत्यः ।
रात्रौ प्रकाशं विदधत्यनल्पं सञ्जीवनञ्चापि निजाश्रितानाम् ॥३०॥

जान पड़ता है कि तेजस्वियों की निवासभूमि होने के कारण जड़ औषधियाँ रात में ही पूर्ण प्रकाश देती हैं और अपने ऊपर निवास करने वालों में संजीवन-संचार करती हैं ॥३०॥

पीतं पुरा रत्नमयं पयो यत् कालान्तरे तत्परिवर्द्धमानम्।
विभाति विष्वक् शिखरेषु यस्य ह्यन्नानुरूपं गुणमेति सर्वः ॥३१॥

इस हिमालय ने कभी पहले रत्नमय दूध पीया है, वही धीरे-धीरे बढ़ कर बड़ा और पुष्ट हो गया है। इसी से हिमालय के सारे शिखर विशेष चमकीले दीख पड़ते हैं क्योंकि सब योजनानुरूप ही गुण धारण करते हैं ॥३१॥

कदाचिदुष्णांशुघनोष्णतायाः प्रलीयसङ्घो द्रवतामुपैति।
सरित्स्वरूपेण सरन्नजस्रं विलोक्यते स्वच्छजलप्रवाहः ॥३२॥

कभी सूर्य की गर्मी के कारण बर्फ के चट्टान द्रवीभूत होने लगते हैं और नदी के रूप में आगे बढ़ते हुए स्वच्छ जलप्रवाह के रूप में बराबर दीख पड़ते हैं ॥३२॥

पतन्ति शृङ्गेषु हिमानि यस्य किरीटरूपाणि विभान्ति तानि।
सत्त्वानि यद्वा स्फुटमाव्रजन्ति महान्तमायाति न को दिदृक्षुः ॥३३॥

जिसके शिखर के ऊपर बर्फ गिरने से उसका मुकुट बन सुशोभित होता है अथवा सत्त्वगुण रूपवान् हो कर स्पष्ट रूप से वहाँ पहुँचने लगता है; महात्मा के दर्शन निमित्त कौन कहाँ नहीं जाता ? ॥३३॥

सिद्धाश्रमाः सन्ति तटेषु यस्य विभाति सिद्धिङ्गत एष नूनम्।
ततस्तु तेषां ददते नु सिद्धिं परोपकारव्रतिनो महान्तः ॥३४॥

इसके सब ओर सिद्धों का आश्रम है, जिससे जान पड़ता है कि यह सिद्धि प्राप्त किये हुए हैं; इसी से सिद्धि चाहने वाले लोगों को सिद्धि प्रदान करता है। महान् लोग परोपकारव्रती होते हैं ॥३४॥

कलेन गानेन च किन्नरीणां नृत्येन वंश्यादिरवेण यत्र।
यक्षेश्वरा मोदमुपागताः प्राग् दैत्येन्द्रभीत्या त्वधुना सकम्पाः ॥३५॥

कुबेर (यक्षेश्वर) आदि लोग पहले किन्नरियों के मधुर गान और नृत्य, बाँस के छिद्र में घुसती हुई हवा की मधुर ध्वनि, से आनन्द प्राप्त करते थे, वे ही इस समय दैत्यराज के भय से कम्पायमान हो रहे हैं ॥३५॥

तस्यैकदेशं समुपागतास्ते सुराः स्वकीये हृदि भावयन्तः।
स्तवैरनेकैर्गिरिराजकन्यां समस्तुवन् दर्शिततत्स्वरूपाः ॥३६॥

उसी (हिमालय) के एक शिखर पर पहुँच कर देवता लोग जगदम्बा के स्वरूप का हृदय में ध्यान करते हुए और उन्हीं रूपों का स्तोत्र बना कर अनेक स्तोत्रों से गिरिजा महारानी की स्तुति करने लगे ॥३६॥

स्तुतिं समाकर्ण्य जगाद गौरी प्रत्यक्षतामेत्य पुरः सुराणाम्।
किमर्थमद्य स्तवनप्रयासो विधीयते देववरा भवद्भिः ॥३७॥

जगदम्बा उस स्तोत्र को सुन कर देवताओं के समक्ष प्रत्यक्ष रूप हो कर बोलीं—'हे देवताओ ! आप लोगों ने इस समय स्तुति करने का प्रयास किस हेतु किया है ?' ॥३७॥

ततस्तदङ्गात्प्रसजनुस्तदानीं जगाद काचिद् गिरिराजकन्याम्।
मत्तो निजं त्राणमवेक्षमाणा समागता मां स्तुवतेऽमरेन्द्राः ॥३८॥

इसके बाद उनके शरीर से प्रकट हुई कोई एक देवी गिरिजा महारानी से बोली—'ये देवता लोग हम से अपनी रक्षा चाहते हुए यहाँ आये हैं और स्तुति कर रहे हैं ॥३८॥

निशुम्भदैत्येन पराजितास्तत्त्रस्ता वसन्तो गिरिगह्वरेषु।
न किञ्चिदन्यच्छरणं विलोक्य समागता मां नुनुवुर्भृशार्ताः ॥३९॥

'निशुम्भ नामक एक दैत्यराज से पराजित हो कर और उसी के डर से पहाड़ की गुफाओं में निवास करते हुए और कहीं पर किसी से अपनी रक्षा नहीं देख कर अत्यन्त आर्त्त हो कर मेरे पास आये हैं' ॥३९॥

धर्मस्य लोकस्य च सज्जनस्य विरोधिनां यत् क्षतजं नवीनम्।
ममाङ्गरागोस्ति तदेव देवाः ! दधामि तेषां शिरसां स्रजञ्च ॥४०॥

वह बोली—'हे देवताओ ! धर्म, संसार और सज्जनों के विरोधियों का गाढ़ा रक्त ही मेरा श्रृंगार-प्रसाधन है और उन्हीं के सिर की माला मैं बराबर धारण करती हूँ' ॥४०॥

मम प्रतिज्ञां श्रृणुतामरेशा यावन्न दुष्टान् विनिहन्मि लोके।
त्रपापवाणार्थमपि स्ववस्त्रं दुष्टाग्रहस्तांश्च करोमि नूनम् ॥४१॥

'हे देवताओ ! मेरी प्रतिज्ञा को सुनिए—"जब तक संसार में सताने वाले को नष्ट नहीं कर लेती हूँ तब तक लज्जानिवारण के लिए भी अपना वस्त्र नहीं धारण कर, शत्रुओं के हाथ को ही अपना वस्त्र बनाती हूँ" ॥४१॥

न पश्यथोर्ध्वं मम दक्षपाणिमभीतये मच्छरणागतानाम्।
वरप्रदानाय तथा ततोधः समुद्यतं रक्तसरोरुहाभम् ॥४२॥

'क्या देख नहीं रहे हैं कि मेरा दाहिना हाथ ऊपर की ओर उठा हुआ है कि मेरे शरणापन्न लोग निर्भीक रहें और उसके नीचे जो हाथ खुला हुआ है वह वरदान देने के लिए बराबर उद्यत रहता है ? उन दोनों हाथों का तल भाग जो रक्तकमल के समान लाल है ॥४२॥

वामेन हस्तेन दधामि दुष्टमुण्डं यतो भीतिमतश्च दृष्ट्वा।
आयातु चेत्कोपि भयं विहाय पुरादशां स्वामवलोकयेत ॥४३॥

'बायें हाथ से दुष्टों का मुण्ड धारण करती हूँ, क्योंकि (उस) डरे हुए को देख कर यदि कोई भय त्याग कर आवे तो अपनी पहले की अवस्था को देखे ॥४३॥

सतामजस्रं परिरक्षणाय दधामि खड्गं तडिदुज्ज्वलाभम्।
कटिश्च दुष्टान्त्रकरैर्नियम्य भ्रमाम्यसाधून् परिमार्गमाणा ॥४४॥

'सज्जनों की रक्षा के लिए बिजली के समान चमकीली तलवार को बराबर धारण किये रहती हूँ और दुष्टों की अँतड़ियों से कमर कस कर दुर्जनों को ढूँढ़ती हुई बराबर घूमती रहती हूँ ॥४४॥

मम स्वभावं श्रृणुतामरेन्द्राः ! सहे न दुःखं निजसेवकानाम्।
तदल्पकं मां व्यथतेऽतिमात्रं शल्यं यथा, तच्च निराकरोमि ॥४५॥

'हे देवताओ ! मेरे स्वभाव को सुनिए—"अपने सेवकों के थोड़े दुःख को भी मैं सहन नहीं कर सकती। उनका थोड़ा दुःख भी मुझे काँटियों के समान चुमता-सा असह्य हो जाता है, अतः उसे निकाल ही डालती हूँ" ॥४५॥

न तत्सुतास्त्रासमणु स्वचित्ते कुरुध्वमायान्त्यचिरेण दैत्याः।
ममोग्ररोचिष्यखिलान्पतङ्गीभूतान् समन्तादवलोकयध्वम् ॥४६॥

'इसलिए हे पुत्रो ! तुमलोग जरा भी हृदय में भय को स्थान न दो। शीघ्र ही दैत्य लोग आ रहे हैं। मेरे उग्र तेज में सभी ओर से सबको पतङ्ग बने हुए देखोगे' ॥४६॥

तदा सुराणां हृदयेषु नैव प्रमोदपूरः सहसाऽवरुद्धः।
तत्कण्ठनालाध्वगतामवाप्य जयेति रूपेण बहिर्निरैषीत् ॥४७॥

जिस समय भगवती ऐसी वाणी बोलीं उस समय देवताओं के हृदय में जो आनन्दतरङ्ग लहरा उठी वह एकाएक रुक नहीं सकी, बल्कि कण्ठ के रास्ते 'जय' के रूप में निकल पड़ी ॥४७॥

ततो न सा तज्जननी च तत्र विलोकिते कुत्र गते न बुद्धे।
स्वप्नोपमं पूर्वमवेक्षमाणा देवा नितान्तं चकिता बभूवुः ॥४८॥

इसके बाद न तो वह और न जिससे प्रकट हुई थी वह वहाँ दीख पड़ीं और यह भी नहीं ज्ञात हुआ कि वे दोनों कहाँ चली गईं। पहले तो देवता लोगों ने जो कुछ दृश्य देखा था उसे स्वप्न के समान माना और वे अत्यन्त आश्चर्य में पड़ गये ॥४८॥

ततस्तु ते श्री जगदम्बिकाया मायां विदित्वा स्थिरतामवापुः ।
पुनः पुनस्त्राणकरीं प्रतिज्ञां स्मृत्वा तदीयां मुदिता बभूवुः ॥४९॥

तब उन देवताओं ने श्री जगदम्बा की माया जान कर स्थिरता धारण कर ली और बार-बार उस रक्षक भगवती की प्रतिज्ञा का स्मरण कर आनन्दित हुए ॥४९॥

समुदिते सुमनः सुमनोऽम्बरे विमलमोदभरे नवभास्करे ।
विततशोकतमो स्तमितं क्षणाद्दूरमलं खलु कौशिकवद् गतम् ॥५०॥

देवताओं के सुप्रसन्न मनरूपी आकाश में निर्मल आनन्दसमूहरूपी नवीन सूर्य के उदय होने पर पूर्व में फैला हुआ शोकरूपी अन्धकार क्षणमात्र में, जैसे सूर्य के उदय होते ही उलुआ लापता हो जाता है, दूर चला गया ॥५०॥

ते चापि देव्युदितवाक्छ्रवणात्प्रतीता
यात्रा यथेष्टविषयान् सगणास्तदानीम् ।
दैत्येन्द्रनाशमनिशं समपेक्षमाणाः
कालं कथञ्चन सुरा गमयाम्बभूवुः ॥५१॥

उस समय देवता लोग भगवती जी के कहे हुए वचन से विश्वस्त हो कर अपने गणों के साथ अपने-अपने इष्ट स्थान पर चले गये और अहर्निश दैत्यों के नाश की अपेक्षा करते हुए किसी प्रकार समय को बिताने लगे ॥५१॥

इति श्रीदेवीचरिते महाकाव्ये हिमालयवर्णनपूर्वकशुभनिशुम्भवधाय श्रीदेवी-प्रतिज्ञा नाम अष्टमः सर्गः ॥

'श्री देवीचरित महाकाव्य' में हिमालय-वर्णन तथा श्री देवीजी द्वारा शुम्भ और निशुम्भ के वध की प्रतिज्ञा नामक अष्टम सर्ग समाप्त ॥

नवमः सर्गः

अथैकदा दानवराजलक्ष्मीं कर्तुं स्थिरां क्वापि पदं तदर्हम् ।
निरीक्षमाणौ परितो नगेन्द्रप्रदेशमेकं ययतुर्नु कौचित् ॥१॥

इसके बाद किसी समय कोई दो व्यक्ति दानवराजलक्ष्मी को कहीं पर स्थिर करने के लिए चारों ओर उसके योग्य स्थल ढूँढ़ते हुए हिमालय के एक स्थान पर पहुँचे ॥१॥

रुक्षोर्ध्वकेशौ विततोर्ध्वकर्णौ व्यात्ताननारालरदौ कचाक्तौ ।
हस्तस्फुरत्पट्टिशचर्मभीमौ घनध्वनिस्त्रासितसाधुसङ्घौ ॥२॥

वे दोनों व्यक्तियों के सिर के ऊपर रुखड़े बाल, ऊपर उठे फैले हुए कान, खुले हुए मुँह से ऊपर निकले हुए दो दाँत, सारे अंगों में लम्बे-लम्बे केश, हाथों में चमकते हुए पट्टा और ढाल, घड़घड़ाहटयुक्त जोरों की आवाज सज्जनों को भयाकुल करने वाले थे ॥२॥

विलोक्य दूरादतिवाममूर्तिं प्रतप्तचामीकरचारुभासम् ।
स्मिताननां नेत्रगलद्दयां तौ परस्परं चक्रतुरित्थमूहाम् ॥३॥

वे दोनों दूर से एक सुन्दर स्त्री को देख कर आपस में तर्क-वितर्क करने लगे। वह स्त्री तपे हुए सोने के समान चमकीला वस्त्र धारण किये हुए थी, उसका मुखमण्डल मुस्कुराहट से सुशोभित था, और उसकी आँखों से दया चू रही थी ॥३॥

इयं किमस्मत्प्रभुराजलक्ष्मीर्विविक्तदेशं अयते विहर्तुम् ।
अदृष्टपूर्वा कतमेत्यवेत्य विभासयन्ती नगराजमास्ते ॥४॥

क्या यह हमारे महाराज की लक्ष्मी है, जो वन-विहार के हेतु एकान्त में बैठी हुई है ? यह पहले कभी को देखी हुई-सी नहीं जान पड़ती है और हिमालय को चमत्कृत करती हुई विराजमान है ॥४॥

नगेश्वरस्यास्त्यथवाधिलक्ष्मीरियं प्रजाः पश्यति वा स्वकीयाः ।
आहोस्विदेतद्वनराजदेवी निजप्रदेशं परिवीक्षतेऽथ ॥५॥

यह गिरिराज की लक्ष्मी हैं जो अपनी प्रजाओं को देख रही हैं अथवा कोई वनराज देवी हैं जो आज अपने प्रान्तों को देख रही हैं ॥५॥

या वा भवेदस्ति सुरत्नमेषा स्त्रीत्वेपि निर्भीकतया रहःस्था।
विचित्रमेतत्खलु वृत्तमस्मद्राजाधिराजाय निवेदयावः ॥६॥

चाहे जो भी हों, वह तो सुन्दर रत्न हैं; स्त्री होते हुए भी निर्भीक हो कर एकान्त में बैठी हुई हैं। यह तो विचित्र बात (वृत्तान्त) है। हम दोनों को अपने महाराज से निवेदन करना चाहिए ॥६॥

किं वा नु पृच्छामि मनोहराङ्गि! का त्वं कुतः कस्य च का समीहा।
तद्वल्गुवाक्यामृतपूर्णकर्णावावां कृतार्थौ न भवाव किंवा ॥७॥

या क्यों नहीं पूछ लें कि हे सुन्दरी! तुम कौन हो? कहाँ से आई हो? ऐसा करने से उसके मधुर वाक्य रूपी अमृत से हम दोनों के कान भर कर तृप्त हो जाएँगे और हम दोनों भी कृतार्थ हो जाएँगे ॥७॥

एकाकिनी यद्रहसि स्थितास्ति ध्रुवं परां शक्तिमुपैति सेयम्।
निजानुरूपं पतिमाप्तुकामा यद्वा विविक्तं श्रयते सकामा ॥८॥

वह तो एकान्त में बैठी हुई है; कोई बहुत बड़ी शक्ति प्राप्त की हुई है; अथवा अपने योग्य पति पाने की इच्छा से कामाकुल हो एकान्त में बैठी है ॥८॥

अस्मत्परः कोस्ति वरः पृथिव्यां विलोकन्त्येव वरिष्यतेऽस्मान्।
न किं तदाश्चर्यविधायिशोभासमुद्रपूरे वयमुत्तरेम ॥९॥

तो पृथ्वी पर हमलोगों से बढ़ कर कौन है ही? वह तो देखते ही हमलोगों को वरण कर लेगी; तो फिर क्यों नहीं आश्चर्यरूपी समुद्र की तरंग में कूद कर गोता लगावें? ॥९॥

चरा वयं स्वप्रभुकिङ्करा यत्कथं स्वतन्त्रत्वमुपाचरेम।
वरं तदस्माकमिदं यथावन्निवेदयामोऽखिलमेव तस्मै ॥१०॥

परन्तु हमलोग तो अपने स्वामी के सेवक हैं; उनकी आज्ञा के बिना स्वतन्त्रतापूर्वक कैसे कोई काम कर सकते हैं? इसलिए अच्छा तो यह है कि ये सभी वृत्तान्त अपने प्रभु से निवेदन कर दें ॥१०॥

इत्थं विविच्याथ सुदूरस्तस्तौ तदीयमाक्षिप्तनिजप्रभावौ।
रविप्रभायां तिमिरं यथा नो गतौ पुरस्ताच्च ततो निवृत्तौ ॥११॥

दूर से ही ऐसा सोच कर और देवी जी की प्रभा से मन्दप्रभ हो कर वे दोनों वहाँ उसी तरह नहीं गये जैसे सूर्य की प्रभा के सामने अन्धकार नहीं जाता है॥११॥

अहो तदीया मधुराकृतिश्च प्रतापराशिश्च विचित्ररूपः।
शरीरबन्धश्च दृढो नितान्तमित्थं लपन्तौ ययतुः प्रभुं स्वम् ॥१२॥

अहा, उस स्त्री की आकृति मधुर है, प्रताप का तो वह विचित्र खजाना है; और उसके शरीर का गठन अत्यन्त मजबूत है—दोनों परस्पर ऐसी बातें करते हुए अपने स्वामी के पास पहुँचे ॥१२॥

प्रणम्य तं दैत्यवरञ्च तेन जिज्ञासितौ राज्यगतं नवीनम् ।
वृत्तान्तमाचख्यतुरञ्जसैव हिमालये दृष्टचरं यथावत् ॥१३॥

दैत्यराज को प्रणाम करने तथा उसके राज्यगत नवीन समाचार पूछे जाने पर, उन दोनों ने हिमालय पर जो देखा था, सभी वृत्तान्त यथावत् कह दिया ॥१३॥

यदीत्थमाख्यासि विलम्बसे किं तदन्तिकं तूर्णतरं प्रयाहि ।
मदीयवाक्येन कथं कथञ्चित्प्रलोभ्य तामानय मत्सकाशम् ॥१४॥

'यदि ऐसी बात है तो देर क्यों करते हो ? अतिशीघ्र उसके निकट जाओ। मेरी ओर से चाहे जैसे हो प्रलोभन दे कर उसे मेरे पास ले आओ ॥१४॥

यदि प्रलोभान्न समाव्रजेत्सा मदीयवाक्यं शृणुयान्न मोहात् ।
तदा भयात्तामबलां बलाद्वा समाव्रजादाय न रिक्तपाणिः ॥१५॥

'यदि वह प्रलोभन देने से न आवे या मोहवश मेरी बात न सुने तो उस अबला को भय दिखला कर बलपूर्वक ले आओ। देखो, खाली हाथ न आना ॥१५॥

यद्वा पुरस्तात्स तु धूम्रनेत्रः प्रयातु सुग्रीवचरेण साकम् ।
सैन्येन भीमेन समन्वितस्त्वं ससोदरो यास्यसि तस्य पश्चात् ॥१६॥

'अथवा धूम्राक्ष सुग्रीव नामक अपने साथी के साथ पहले जाय। उसके बाद तुम अपने भाई के साथ भयंकर सेना ले कर जाना' ॥१६॥

प्रचण्डचण्डः प्रभुणानुशिष्ट इत्थं सखड्गेन करेण नत्वा ।
मुण्डेन सार्धं निजसोदरेण चचाल भूभृद्वरमुग्ररोषः ॥१७॥

भयंकर चण्ड अपने स्वामी से इस प्रकार आज्ञा पा कर तलवार लिये हुए हाथ से प्रणाम कर अपने भाई मुण्ड के साथ बड़े क्रोध में हिमालय की ओर चला ॥१७॥

तस्मिन् गते तत्र दिवङ्गते च हुङ्कारमात्रेण जगन्नियन्त्र्याः ।
पलायिते चापि बले तदीये श्रुत्वेति चण्डोऽभिहितोऽथ तेन ॥१८॥

उसके वहाँ जाने पर और जगन्नियन्त्री के हुंकारमात्र से उसके स्वर्ग चले जाने पर तथा उसकी सेना के भाग जाने के बाद जब शुम्भ ने यह खबर सुनी, तो चण्ड से बोला—॥१८॥

समागतोयं समयः स वीरः प्रयाहि तूर्णं स्मर पूर्वमुक्तम् ।
न पश्यसि त्वं स तु धूम्रनेत्रो महाबलिष्ठो निहतो बलेशः ॥१९॥

'हे वीर ! अब वह समय आ गया है। पहले जो मैंने कहा था, उस बात को याद करो। नहीं देखते हो कि बलिष्ठ सेनानायक धूम्राक्ष मारा गया' ॥१९॥

नगेन्द्रमासाद्य च तच्छिरःस्थां विलोक्य देवीमुपजग्मतुस्तौ ।
प्रदर्श्य दन्तान् परिसार्य नेत्रे घनस्वनं प्रोचतुरित्थमुग्रम् ॥२०॥

इसके बाद वे दोनों गिरिराज के शिखर पर बैठी हुई भगवती के निकट गये । दाँत पीस कर और आँखों को फैला कर बादल गरजने के समान इस प्रकार भयंकर शब्द बोले—॥२०॥

जानासि न त्वं जगदेतदस्मत्प्रभोर्वशे तिष्ठति साम्प्रतं यत् ।
तत्कोपतस्त्रस्यति तत्प्रसादात्प्रसीदतीति प्रथितं पृथिव्याम् ॥२१॥

'क्या तुम्हें ज्ञात नहीं है कि यह संसार इस समय मेरे स्वामी के वश में है और पृथ्वी पर के सभी लोग उनके क्रोध से डरते हैं और उनकी प्रसन्नता पर प्रसन्न होते हैं ? ॥२१॥

रत्नान्यशेषाणि चराचराणि तदीयगेहस्य च भूषणानि ।
को वेत्ति नो साम्प्रतिको गणेषु जानासि चेत्त्वं न हि लोकबाह्या ॥२२॥

'चर-अचर जितने रत्नरूप हैं वे सब उनके घर की शोभा बने हुए हैं, कौन नहीं जानता ? यदि तुम नहीं जानती हो तो दुनिया से बाहर की हो ॥२२॥

यस्यालये किञ्चिदमूल्यरत्नं भवत्यसौ तत्स्वयमस्य पार्श्वे ।
उपायनं प्रेषयतेऽनुकम्पालवाभिलाषी शृणु रत्नरूपे ! ॥२३॥

'हे रत्नरूपे ! सुनो, संसार में जिसके पास जो भी बहुमूल्य रत्न हैं, वह व्यक्ति स्वयं ही उनके पास उपहार के रूप में इसलिए पहुँचा देता है कि ऐसा करने से उनकी थोड़ी-सी कृपा होगी ॥२३॥

विभाति कश्चिन्नहि ते सहायो न चेदवश्यं तदनुग्रहेप्सुः ।
समर्पयेत्त्वां वररत्नरूपां योग्यान्तिके योग्यतमं हि योज्यम् ॥२४॥

'तुम्हारा कोई सहायक नहीं जान पड़ता । यदि सचमुच नहीं है तब तो अवश्य ही उनके अनुग्रह के इच्छुक हो । अतः श्रेष्ठ रत्नरूप तुम्हें उनके पास पहुँचा देता हूँ क्योंकि जो जिसके योग्य हो, उसे उसी के पास पहुँचा देना चाहिए ॥२४॥

गतं न किञ्चिद्यदि वाञ्छसि त्वं भवेः सपत्नी जगदीशलक्ष्म्याः ।
जगत्समस्तं यदि शासितुं वा स्वयं भवेः मत्प्रभुसंश्रयेण ॥२५॥

'यदि तुम किसी वस्तु को नहीं चाहती हो, तो जगदीश की लक्ष्मी की सौत बन जाओ अथवा यदि संसार पर शासन करना चाहती हो तो मेरे स्वामी के पास स्वयं चली जाओ ॥२५॥

रत्नालये सम्प्रति मत्प्रभोस्त्वं सुरम्यरत्नं स्वयमेव मत्वा।
सर्वाणि रत्नानि तिरस्कुरुष्व भवामले! तद्धृदयालयस्था ॥२६॥

'यदि तुम इस समय मेरे स्वामी को अपनाती हो तो उनके घर में लक्ष्मी रूप से रहोगी। हे सुन्दरी! अपने को सुन्दर रत्नरूप समझ कर उनके हृदय में स्थान बना कर सभी रत्नों को तिरस्कृत कर दो ॥२६॥

यदाज्ञयाऽवामिति वक्तुमेव समागतौ छन्दतयात्मनो न।
विविच्य चेत्स्वीकुरुषे गिरं नौ न चेत्परं वाक्यमिदं शृणु त्वम् ॥२७॥

'हम दोनों उनकी आज्ञा से ही यह सब कहने के लिए आये हैं, अपनी इच्छा से नहीं। हमारी बातें यदि खूब सोच-समझ कर मानती हो तब तो ठीक है, नहीं तो तुम एक दूसरी बात सुनो ॥२७॥

करं समाकृष्य बलात्कचान् वा नयावहे त्वां ग्रहिलामकामाम्।
विचेष्टमानां निजराजपार्श्वे, भवाऽबले! सम्प्रति सावधाना ॥२८॥

'यदि अपना हठ नहीं छोड़ोगी तो जबरदस्ती हाथ या केश खींच कर छटपटाती हुई तुझ स्वेच्छाचारिणी को अपने राजा के निकट ले जाऊँगा। हे अबले! अभी तुम सावधान हो जाओ ॥२८॥

तथापि चेत्तं न वरिष्यसेऽज्ञे! पश्यासिमेनं तव कण्ठदेशे।
पतिष्यति स्वीकुरु मद्वचोऽतो वृथाऽपमानं सहसे कथं वा ॥२९॥

'हे मूर्खे! उस पर भी यदि तुम मेरे स्वामी को नहीं स्वीकार करोगी, तो देखो इस तलवार को; यह तुम्हारे गले पर गिरेगी। अतः मेरी बात मान लो, व्यर्थ क्यों अपमान सहन कर रही हो?' ॥२९॥

इति प्रगल्भं वचनं तदीयं निशम्य देवी स्मितपूर्वमूचे।
त्रिलोकनाथस्य वचो न कस्य मान्यं भवेत्तद्यदथो यथार्थम् ॥३०॥

इस प्रकार ढिठाई पूर्ण उसका वचन सुन कर भगवती मुस्कुराती हुई बोलीं—'तीनों लोक के स्वामी का वचन किसे नहीं मान्य होगा? परन्तु वह यदि उचित हो ॥३०॥

त्रैलोक्यलक्ष्मीं न च कोऽभिवांछेत् सर्वेषु कः शासनमीहते नो।
सुदुस्त्यजान् वा कतमो निजासून् विहापयेच्छन्दतयाऽनभिज्ञः ॥३१॥

'तीनों लोक की लक्ष्मी को कौन नहीं चाहता है? या सबके ऊपर शासन की इच्छा कौन नहीं रखता है? अथवा अत्यन्त प्रिय अपने प्राणों को इच्छा पूर्वक नष्ट करवाना कौन चाहेगा? ऐसा कोई मूर्ख ही तो होगा ॥३१॥

तथापि सौम्यौ ! विदधेऽधुना किं पुरा प्रतिज्ञातवती यथाहम् ।
तदन्यथा कर्तुमलं कथं स्यां जनुः समासाद्य नगेन्द्रगेहे ॥३२॥

'हे सज्जनो । अब मैं करूँ क्या ? पहले जो प्रतिज्ञा कर चुकी हूँ उसे मैं गौरवपूर्ण नगाधिराज के गृह में जन्म धारण कर अन्यथा कैसे कर सकती हूँ ? ॥३२॥

यो मां युधा जेष्यति वीर्यशाली दर्पं च यो मे विफलं विधाता ।
बलातिरेकेण च सम्मुखस्थो ध्रुवं पतित्वेन वरिष्यते सः ॥३३॥

'(प्रतिज्ञा यह है कि) जो कोई बलशाली मुझे युद्ध के द्वारा जीत लेगा और मेरे घमण्ड को निष्फल बना देगा तथा अधिक बलवान् होने के कारण मेरा सामना करेगा, वही पति के रूप में मुझे स्वीकृत होगा—यह ध्रुव (अटल) है ॥३३॥

मां मन्यतेसौ यदि रत्नरूपां द्रष्टुं किमायाति न मत्सकाशम् ।
कष्टेन रत्नार्थमटन्ति सर्वे न याति कस्यापि समीपमेतत् ॥३४॥

'यदि वह (तुम्हारे स्वामी) मुझे रत्नरूप मानते हैं तो मुझे देखने के लिए मेरे समीप आते क्यों नहीं ? सब लोग तो रत्न के लिए कष्ट उठा कर घूमते-फिरते रहते हैं; यह रत्न तो किसी के पास स्वयं नहीं जाता ॥३४॥

सम्माननं वा विदधाति दूतौ ! प्रयच्छति स्वां यदि वा श्रियं सः ।
गृहेश्वरीं मां यदि वा करोति दूतैः समाकर्षति किं प्रसह्य ॥३५॥

'हे दूतो ! यदि वह मेरा सम्मान करते हैं अथवा वे अपनी लक्ष्मी प्रदान करते हैं या मुझे अपनी गृहेश्वरी बनाना चाहते हैं, तो दूतों के द्वारा जबरदस्ती क्यों खिंचवाते हैं ? ॥३५॥

स्नेहस्य मार्गो नहि दृश्यतेऽयं न वा निदानं खलु माननस्य ।
अथ प्रयातं वदथो मदुक्तं स्वयं समागत्य नयेदसौ माम् ॥३६॥

'यह न तो प्रेम का मार्ग है, न सम्मान का मूल कारण है; अतः तुम दोनों जा कर उनसे मेरी बातें कहो कि वे स्वयं आ कर मुझे ले चलें ॥३६॥

भूयोपि किञ्चिन्नु विवक्षथोऽथाऽधरौ स्फुरन्ताविव लक्ष्यमाणौ ।
युष्मद्गिरं श्रोतुमलं न कर्णौ धाष्ट्र्यं परं वां न तु सह्यमेतत् ॥३७॥

फिर भी कुछ बोलना चाहते हो क्योंकि तुम्हारे ओठ कुछ फड़कते हुए दीख पड़ते हैं, परन्तु मेरे कान अब तुम्हारी बात सुनने को प्रस्तुत नहीं हैं । इस के बाद भी यदि बोलने की ढिठाई करोगे तो सह्य नहीं होगा' ॥३७॥

श्रुत्वा परं कोपकषायिताक्षौ रदच्छदं स्वं दशनैर्दशन्तौ ।
उद्यम्य खड्गं समरं विधातुं समुद्यतौ तत्र बभूवतुस्तौ ॥३८॥

वे दोनों वहाँ पर उस बात को सुन कर क्रोध से आखें लाल कर तथा दातों को ओठ से काटते हुए तलवार उठा कर तुरन्त युद्ध करने के लिए तैयार हो गये ॥३८॥

देव्यङ्गजातातिकरालरूपा शक्तिश्च ताभ्यां सह योद्धुमग्रे ।
उपस्थिता दर्शितदिव्यशक्तिः शिवानुशिष्टाशितिभूधराभा ॥३९॥

भगवती के अंग से उत्पन्न अत्यन्त भयंकर काले पहाड़ के समान रूप धारण की हुई अपनी दिव्य शक्ति दिखलाती हुई कोई एक शक्ति उनकी (भगवती की) आज्ञा से युद्ध करने के लिए उपस्थित हो गई ॥३९॥

असिं निशातं परिचालयन्तावितस्ततश्चङ्क्रमणं दधानौ ।
चण्डी पुरस्तादवलोक्य दैत्यावादातुमिच्छां विदधौ सजीवम् ॥४०॥

तीखी तलवार को बलपूर्वक भाँजते हुए तथा इधर से उधर पैंतरा करते हुए दोनों दैत्यों को सामने देख कर भगवती चण्डी ने उन्हें जीवित ही पकड़ने की इच्छा की ॥४०॥

हुङ्कारमात्रेण हतौजसोः सा शिरः समादाय करद्वयेन ।
आगृह्य खड्गं करतः प्रसह्य विचेष्टमानावनयच्छिवान्ते ॥४१॥

जोरों से 'हुं' मात्र करने से जिनका साहस नष्ट हो गया, उनके हाथ से तलवार छीन कर अपने दो हाथों से दोनों सिर पकड़ कर छटपटाते हुए उन दोनों को जगदम्बा के पास जबरदस्ती ले गई ॥४१॥

विलोकयैतौ प्रधनानुरागौ समाहृतौ त्वत्सविधे जहि त्वम् ।
नेत्रेऽथवा निर्गमयस्व तावन्मुष्ट्याथ वा पातय दीर्घदन्तान् ॥४२॥

'देखें, युद्ध के प्रेमी इन दोनों को आपके सामने लायी हूँ । इन्हें देख कर चाहे मार डालिये अथवा इनकी आँखें निकाल लीजिए या अभी मुट्ठी से दीर्घ दाँतों को तोड़ कर छोड़ दीजिए ॥४२॥

व्यलोकयैतां हि कुवीक्षणेन प्रदर्श्य दन्तांश्च समूचतुर्यत् ।
रदच्छदं कर्तय वाऽपविध्य जिह्वामयःकण्टककीलनेन ॥४३॥

'इन्होंने कुदृष्टि से देखा है और ये दाँत दिखा कर बोले हैं । अतः या तो इनके ओठ काट लीजिए या उन्हें सी कर जीभ में लोहे की काँटी ठोक दीजिए' ॥४३॥

श्रुत्वेति वाचञ्च विलोक्य दैत्यौ जगन्नियन्त्री स्मितपूर्वमूचे ।
जहि त्वमेतौ हि तवैव वध्यौ ततस्तयोः सैन्यमुपाजगाम ।।४४।।

जगन्नियन्त्री देवी इस बात को सुन कर और दैत्यों को देख कर मुस्कुराती हुई बोलीं—'ये दोनों तुम्हारे ही वध्य हैं; तुम ही मारो ।' इसके बाद उन दोनों की सेना वहाँ पर पहुँच गई ।।४४।।

शस्त्रास्त्रवर्षैर्जगदम्बिकां तामाछाद्य चादाय ततो निजेशौ ।
परप्रमोदात्पुनरेव योद्धुं समुद्यतं दर्शितविक्रमं तत् ।।४५।।

बाद (वे सैनिक) शस्त्रास्त्र की वर्षा से जगदम्बा के साथ, चण्डिका के हाथ से अपने दोनों मालिकों को छीन कर, बड़े हर्ष के साथ फिर युद्ध करने के लिए अपना पूरा बल दिखला कर वे लोग तैयार हो गये ।।४५।।

सा तिष्ठ तिष्ठेति वचो निगद्य व्यात्ताननाऽनेकभुजैः सशस्त्रैः ।
विरोचमाना समराङ्गणे तत्सैन्यं समारब्धवती निहन्तुम् ।।४६।।

वह देवी जोरों से गरज कर बोली—"ठहरो, ठहरो ।" और अनेक भुजाओं से विराजमान हो कर उसने युद्धस्थल में उस सेना को मारना आरम्भ कर दिया ।।४६।।

खड्गेन शूलेन च तोमरेण बाणेन दण्डेन च मुद्गरेण ।
तथापरैरस्त्रवरैः सुरारीञ्जघान काँश्चिच्च जघास काँश्चित् ।।४७।।

कुछ दैत्यों को तलवार से, शूल से, बाना से, बाण से, लौहदण्ड से, मुंगड़े से तथा और भी अनेक अस्त्रों से मार डाला और कुछ को चबा गई ।।४७।।

सैन्याधिपौ तावपि खेलयित्वा चिरं रणे दर्शितवीर्यशक्ती ।
कबन्धमात्रौ च विहाय तत्र देव्यन्तिकं सा त्वरितं जगाम ।।४८।।

युद्ध में बहुत देर तक अपनी शक्ति को प्रकट कर दोनों सेनानायकों को भी बहुत देर तक खेला कर केवल देहमात्र युद्ध भूमि में छोड़ कर वह चण्डी शीघ्र ही जगदम्बा के पास पहुँच गई ।।४८।।

ससाधुवादं जगदम्बया सा प्रशस्यमानाभिहिताऽथ चण्डी ।
चण्डं समुण्डं यदिहानयस्त्वञ्चामुण्डिकेति प्रथिता भवातः ।।४९।।

वह चण्डी साधुवाद के साथ जगदम्बा से प्रशंसित होती हुई कही गई—'चण्ड और मुण्ड को जो तुमने यहाँ लाया है, इसलिए संसार में तुम चामुण्डा देवी के नाम से प्रसिद्ध होगी' ।।४९।।

अथ विलोक्य हतौ बलनायकौ झटिति भीतिसकम्पशरीरिणः ।
रणभुवं प्रविहाय पलायिता निगदितुं सकलं निजनायकम् ॥५०॥

इधर सभी सैनिक अपने नायकों को मारे गये देख कर भय से कंपित होते हुए रणक्षेत्र को छोड़ कर शीघ्र ही अपने नायक (मालिक) को सब वृत्तान्त निवेदन करने के लिए भागे ॥५०॥

इति श्रीदेवीचरिते महाकाव्ये चण्डमुण्डादिवधो नाम नवमः सर्गः ।
'श्रीदेवीचरित महाकाव्य' में चण्डमुण्डादिवध नामक नवम सर्ग समाप्त ।

दशमः सर्गः

निशम्य शुम्भो निहतान् प्रतापवान् प्रचण्डचण्डादिचमूचरेश्वरान् ।
विकम्पिताङ्गो गगनस्पृशा गिरा जगाद दैत्यान्निजराज्यरक्षकान् ॥ १ ॥

प्रतापी शुंभ भयंकर चण्डादि सेनानायकों के मारे गये सुन कर काँप उठा । फिर भी आकाशस्पर्शी शब्दों से अपने राज्य के रक्षक दैत्यों से बोला—॥१॥

किमित्ययेवीरतमा न पश्यथ निपातितास्त्वत्सदृशा महाबलाः ।
स्त्रिया न लज्जास्पदमस्ति वोऽधुना विचारयध्वं किमिव व्यवस्यताम् ॥२॥

'ऐ श्रेष्ठ वीरो । क्या तुम लोग यह नहीं देख रहे हो कि तुम्हारे ही जैसे महाबली स्त्री के द्वारा मारे गये ? क्या तुम लोगों के लिए यह लज्जा की बात नहीं है ? तुम्हीं लोग सोचो कि इस समय कैसा करना चाहिए ॥२॥

भयें मृगेन्द्राः ! बहवोऽनुगास्तव मृगेन्द्रनाम्ना पशुना शिवाज्ञया ।
विहिंसिताः किं सहनीयमस्ति वो कथं सध्वेऽति पराक्रमा अपि ॥ ३ ॥

'हे सिंहो ! बहुत से तुम्हारे सिंह नामधारी साथी शिवा (भगवती, स्यारिन)—एक महज जानवर—की आज्ञा से मार दिये गये । क्या यह सहन करने योग्य बात है ? अत्यन्त पराक्रमी होते हुए भी तुम लोग कैसे सह रहे हो ? ॥३॥

स्वबान्धवान् वीक्ष्य परैरपाकृतान् न यस्य चेतो व्यथते मनागपि ।
न वा विधत्ते प्रतिशोधनोद्यमं वृथा स जातः शव एव केवलः ॥ ४ ॥

'अपने बान्धवों को शत्रुओं से अपमानित देख कर जिसका हृदय जरा भी व्यथित नहीं होता अथवा उसके बदला लेने का उद्योग जो नहीं करता है, उसका जन्म ही व्यर्थ हुआ; उसे मुर्दा ही समझना चाहिए ॥४॥

अतः समस्ताः प्रतियन्तु दानवा हिमालये मत्सहितास्त्वरान्विताः ।
विलोकयन्तु स्त्रियमाततायिनीं स्वजातिघातं प्रतिशोधयन्तु च ॥ ५ ॥

'इसलिए हे दानवो ! मेरे साथ सब हिमालय पर जल्दी चलो । उपद्रविनी उस औरत को देखो और अपने जातीय लोगों के घात का बदला लो ॥५॥

यथाह देवः सकलाः समुद्यता वयं बलात्तामबलां सुसस्मिताम् ।
समानयामो यदि तत्सहायको भवेत् स चित्रं विनिपात्यतां मृधे ॥ ६ ॥

'हे महाराज ! आपने ठीक कहा है, हम सब तैयार हैं । सदा मुस्कुराती रहने वाली उस अबला को बलपूर्वक ले आते हैं । यदि कोई उसकी सहायता करेगा तो युद्ध में ही उसे चित्रमरण का घाट उतार देंगे ॥६॥

करिष्यते वा यदि विग्रहं हठात् सशस्त्रमायास्यति वा रणाङ्गणे।
तदा वयं तामबुधां कृताग्रहां बलाद्वधिष्याम इति ध्रुवा स्थितिः ॥ ७ ॥

'अथवा यदि हठ करके विरोध ही करे या सशस्त्र युद्धक्षेत्र में डट जावे तो हमलोग उस हठीली एवं बे समझ को वहीं मार देंगे, यही निश्चय रहा' ॥७॥

इति स्ववर्ग्यप्रतिसंश्रुतिं तदा निशम्य शुम्भः प्रससाद सानुजः।
प्रशस्य तांस्तैः सहितः समुत्सुकः समुद्यतोऽभूत्समराय साग्रहः ॥ ८ ॥

इस प्रकार अपने गणों की प्रतिज्ञा को सुन कर शुम्भ अपने भाई (निशुम्भ) के साथ ही प्रसन्न हो गया और उनकी प्रशंसा करके उनके साथ ही युद्ध के लिए उत्सुक हो आग्रहपूर्वक तैयार हो गया ॥८॥

गजाश्वजैर्भीमरवैः समन्वितो रथोद्भवध्वानविमिश्रितैरथ।
अनेकवाद्यध्वनिदत्तसाहसः स वीरघोषोऽभिययौ हिमालयम् ॥ ९ ॥

इसके बाद भयंकर हाथियों की चिग्घाड़, घोड़ों की हिनहिनाहट, रथों की घड़घड़ाहट से युक्त तथा अनेक वाद्यों के सिंहनाद से बढ़ाये हुए साहस पा कर वह दैत्यराज्य सिंहनाद करते हुए वीरों के साथ हिमालय की ओर चला ॥९॥

तदा नवोद्यद्धरिदश्वभासुरारुणं वसाना वसनं महामृधे।
जपस्रजञ्चापि कमण्डलुं करे दधत्यगात् कापि मरालवाहना ॥१०॥

उस समय नवीन उदित सूर्य की प्रभा के समान चमकीला वस्त्र, हाथों में जप की माला और कमंडलु धारण कर हंस पर चढ़ी हुई शक्ति उस होने वाले महासंग्राम में पहुँची ॥१०॥

त्रिलोचना सर्पविभूषणा तथा हिमद्युतिश्चन्द्रकिरीटशोभना।
त्रिशूलहस्ता वृषभेन्द्रवाहना समागता कापि च तत्र सङ्गरे ॥११॥

उस युद्ध में साँपों के भूषण, बर्फ के सदृश चन्द्रमा का मुकुट, हाथ में त्रिशूल धारण की हुई, बैल पर सवार, तीन आँखों वाली कोई शक्ति पहुँची ॥११॥

निजास्त्रशक्तिप्रभयाऽथ काचन प्रकाशयन्ती परितो नगेश्वरम्।
निशि प्रदीप्तानलरोचिरागता मयूरमारुह्य दृढं स्ववाहनम् ॥१२॥

कोई शक्ति अपने शक्त्यस्त्र की प्रभा से हिमालय को चारों ओर प्रकाशित करती हुई, रात में अत्यन्त प्रज्वलित अग्नि के समान तेजस्वी एवं दृढ़ अपने वाहन मोर पर चढ़ी हुई पहुँची ॥१२॥

नवाम्बुदाभा तडिदम्बरा करैर्दधत्यसिं चर्म गदां च भीषणाम्।
विभासयन्ती निजचक्ररोचिषा खगेशयानेन समागता मृधे ॥१३॥

नवीन मेघ के समान शरीर, बिजली के समान वस्त्र, हाथों में ढाल-तलवार और भयंकर गदा धारण की हुई तथा अपने मुख्य आयुध चक्र के तेज से सभी ओर प्रकाशित करती हुई गरुड़ पर चढ़ कर उस युद्ध में पहुँच गई ॥१३॥

सितक्ष्माभृत्प्रतिभा घनध्वनिर्विशालदंष्ट्रा विततोर्ध्वकर्णिका ।
चलत्खुरा प्रोथविदारिताचला समागता कापि महारणाजिरे ॥१४॥

एक और शक्ति उस महासंग्राम में पहुँची, जिसका शरीर हिमालय के समान उजला था, जो जोरों से गरज रही थी, जिसे दो बड़े दाँत और ऊपर की ओर उठे हुए विशाल कान थे, जिसके खुर चंचल थे और जो हिमालय को अपने थोथुना से कोड़ रही थी ॥१४॥

विशालकाया विततोर्ध्वकेसरा करालदंष्ट्रा नखरैः खरैर्युता ।
प्रलम्बचञ्चद्रसनाऽर्धसिंहिका समागता ध्वानभयप्रदाऽसताम् ॥१५॥

एक और शक्ति युद्ध में पहुँची जिसका शरीर विशाल था, जिसके केशर (कन्धे के बाल) ऊपर की ओर उठे हुए थे, जो भयंकर दाँत एवं तीखे नाखून से युक्त थी, जो अपनी लम्बी तथा चंचल जीभ लपलपा रही थी और अपनी भयंकर ध्वनि से दुर्जनों में भय उत्पन्न कर रही थी तथा ऊपर का आधा शरीर सिंह का था ॥१५॥

पविप्रभाभासितदिग्दिगन्तरा विलोकयन्ती परितोऽक्षिभिः शतैः ।
किरीटहारादिविभूषणोज्ज्वला गजेन्द्रयानेन च काचिदागता ॥१६॥

उस युद्ध में एक और शक्ति, जो वज्र की प्रभा से दिग्दिगन्त को प्रकाशमान करती हुई, सैकड़ों नेत्रों से चारों ओर देखती हुई, किरीट, हार आदि भूषणों से आभूषित गजराज (ऐरावत) पर चढ़ कर पहुँची ॥१६॥

पितामहेशाच्युतमुख्यदेवता तनूद्भवाभिः परितस्तु शक्तिभिः ।
इतीश्वरी तत्र वृता रणाङ्गणेऽसुरान् जहीत्थं निजगाद चण्डिकाम् ॥१७॥

ब्रह्मा, शिव, विष्णु आदि प्रधान देवताओं के शरीर से प्रकट शक्तियों से घिरी हुई गौरी चण्डिका से इस प्रकार बोली कि युद्ध क्षेत्र में तुम लोग असुरों को मारो ॥१७॥

गिरीन्द्रजायाश्च ततो विनिःसृताऽसितप्रभाभीमशिवाशतध्वनिः ।
जगाद शक्तिर्व्रज दानवान्तिकेऽवददभृशं मद्वचसाऽसुरेश्वरम् ॥१८॥

पार्वती के शरीर से प्रकट केले के रंग की कान्तिवाली सैंकड़ों स्यारिनों के समान शब्द करने वाली शक्ति ने कहा कि दानवों के निकट जा कर मेरी ओर से उनके स्वामी से बोलो—॥१८॥

समतु'वासे सकलेष्टसाधकप्रशाखशाखिप्रकरे मनोरमे ।
सुनन्दने चैत्ररथे च कानने तवाद्य यावत्सुदृढाऽधिकारिता ॥१९॥

'जिसमें सभी ऋतुओं का बराबर वास रहता है, सभी इष्ट को देने वाली लम्बे-लम्बे डालों से सुशोभित वृक्ष लगे हुए हैं, उस सुन्दर नन्दन तथा चैत्ररथ उद्यान में आज ही तक आप का अधिकार सुदृढ़ रहा ॥१९॥

सुरम्यरम्भादिकलाध्वनिश्रुतिप्रमोदतस्ते शिरसो विधूननम् ।
स्वकीर्तिगानश्रवणादिसाहसं न सह्यमद्यास्ति तथा विधीयताम् ॥२०॥

'सुन्दर रम्भा आदि अप्सराओं की मधुर ध्वनि सुनने से आनन्द के कारण सिर हिलाना, अपनी कीर्त्तिगान का साहस अब सह्य नहीं है। अतः जैसा करना हो, वैसा करो ॥२०॥

अये धरान्तस्तलवासिनोऽसुरा प्रकाशिकायां दिवि वो निवासितः ।
महत्तरं कष्टमभूदतोऽधुना निजालयं संविशताऽपहाय ताम् ॥२१॥

'हे पाताल-विवर में रहने वाले दैत्यो ! जगमगाहट से पूर्ण स्वर्ग में रहने के कारण बहुत कष्ट हुआ होगा, अतः अब उस स्वर्ग को छोड़ कर अपने गह्वर में घुसो ॥२१॥

गतोऽधुना वो विधिभानुमानहो दिशि प्रतीच्यां किमु तत्प्रतीक्ष्यते ।
विहाय कार्यं सकलं हतोद्यमं निवर्तयध्वं नयनानि मीलितुम् ॥२२॥

'हे दैत्यो ! अब तुम्हारा भाग्यरूपी सूर्य पश्चिम दिशा में चला गया; अब उसकी प्रतीक्षा क्यों करते हो ? कार्यों को करते-करते थकावट हुई है, उन सारे कार्यों को छोड़ कर आँखें मीचने के लिए जाओ ॥२२॥

हविर्घृताक्तं शुचिमन्त्रपावितं बलाद्धविर्भुग्वदनात्सुरार्पितम् ।
गृहीतमद्यावधि तत्तु रेऽधमाः न चिन्तनीयं मनसापि साम्प्रतम् ॥२३॥

'अरे नीचो ! घी से तर पावन वेदमन्त्रों से पवित्र देवताओं के लिए अर्पित जिस हविष्य को जबरदस्ती देवताओं के मुँह से आज तक छीनते रहे हो, उसे अब मन से भी नहीं सोचना ॥२३॥

दृढा न चिन्ताऽथ विमुञ्चति ध्रुवं विबाधते वा भुजजं च खर्जनम् ।
पलाशिनः ! स्वै रुधिरैः पलैस्तथा सुरेश्वरीं तर्पयताद्य चण्डिकाम् ॥२४॥

'यदि उसकी (स्वाद की) चिन्ता इतनी प्रबल हो गई हो कि वह तुम्हें नहीं छोड़ रही हो या भुजाओं की खुजलाहट नहीं मिट रही हो, तो हे मांसा-हारियो ! अपने रक्त तथा मांस से देवताओं की अधिष्ठात्री चण्डिका को तृप्त करो' ॥२४॥

गिरेति शुम्भः श्रुतया पदाहतो यथा भुजङ्गी विषमुत्सृजन् मुखात् ।
बलाधिपान् स्वान् बलवत्तरानथो रणं विधातुं विदधे समुद्यतान् ।।२५।।

शुम्भ इस बात को सुन कर पैर से कुचल कर मुँह से विष उगलते हुए साँप की तरह हो गया और अपने अत्यन्त बलशाली सेनानायकों को युद्ध करने के लिए ललकारा ।।२५।।

ततस्तु सर्वे भुजवीर्यमुल्वणं चिरं प्रदर्श्य क्षयमापुराहताः ।
दयावती सा जगदम्बिका व्यधाद्विरोधिनस्तानपि मुक्तिभागिनः ।।२६।।

इसके बाद वे सब भयंकर दैत्य अपने भुजबल को बहुत काल तक दिखला कर आहत हो कर नष्ट हो गये, किन्तु दयालु जगदम्बा ने उन विरोधी दैत्यों को भी मुक्तिभागी बना दिया ।।२६।।

विमानमारुह्य वराप्सरोऽन्वितं ददर्श कश्चिन्निजगात्रमुत्पतत् ।
करेण खड्गं परिघूर्णयन् मुहुर्विदारितास्यं पतितञ्च मस्तकम् ।।२७।।

श्रेष्ठ अप्सरा के साथ विमान पर बैठी हुई किसी दैत्य की आत्मा ने अपने धड़ भाग को उछलता हुआ, हाथ से तलवार को बार-बार घुमाता हुआ तथा मुँह बाये मस्तक को गिरा हुआ देखा ।।२७।।

परोपि कश्चिच्छवमात्मनो भुवि श्वगृध्रकृष्यान्त्रमपश्यदम्बरे ।
विमानसंस्थाप्सरसा समावृतो मनोज्ञरूपं दधदाजिसंहृतः ।।२८।।

किसी ने देखा कि वह आकाश में सुन्दर रूप धारण कर विमान पर बैठी हुई अप्सरा से आलिङ्गित है, और उसके शरीर की अँतड़ी को कुत्ते और गीध खींच रहे हैं ।।२८।।

.अरे मदीयाः प्रियबान्धवा ! द्रुतं गतिम्बरां देव्यनुकम्पयाप्नुत ।
इति स्म केचिद्ब्रुवते विमानगा न शुश्रुवुस्ते गदितं तदीयकम् ।।२९।।

कोई विमान पर बैठा हुआ यह बोल रहा है—'अरे मेरे प्रिय बान्धवो ! देवी की कृपा से जल्दो उत्तम गति प्राप्त करो', परन्तु वे लोग उसकी बातें नहीं सुन रहे हैं ।।२९।।

रणादपक्रान्तमथ स्वबान्धवं त्रिलोकयन् स्वञ्च जगाद कश्चन ।
अहो न किं मां गतिमुत्तमां गतं विलोकसे किञ्च पलायसे रणात् ।।३०।।

स्वयं स्वर्ग जाता हुआ कोई अपने बान्धव को युद्ध से भागता हुआ देख कर यह कह रहा है—'हे बान्धवो ! उत्तम गति प्राप्त किये हुए मुझे क्यों नहीं देखते ? युद्ध से क्यों भाग रहे हो ?' ।।३०।।

निरीक्षमाणः पुरतो महेश्वरीं रणाङ्गणे कोपि जहौ कलेवरम् ।
विवेश तेजोमयतामवाप्य तां गतिं दुरापां यतिभिर्ययौ तदा ॥३१॥

युद्ध स्थल में सामने जगदम्बा को देखता हुआ कोई शरीर को छोड़ कर तेजोमय शरीर धारण कर उन्हीं में प्रवेश कर गया; उस समय वह योगियों के लिए भी दुर्गम गति को पा गया ॥३१॥

बलिप्रदानेन महेश्वरीं प्रति निजान्वये तारयते ह्यसंख्यकान् ।
स्वयं वलित्वं व्रजिताः कथं न ते भवन्तु मुक्ता अपि पापकारिणः ॥३२॥

देवी जी के सामने बलि चढ़ाने से अपने वंश में असंख्य व्यक्तियों को जो तार देता है, वह यदि स्वयं अपने को उनके सामने समर्पण कर दे, तो कितना भी पापी होने से क्यों नहीं मुक्त होगा ? ॥३२॥

विचिन्तयन्तो निजभूपतिक्रियां गता रणाघातफलं त्रिविष्टपम् ।
पुरः प्रहर्त्रीं जगदम्बिकां तथा विलोकयन्तोऽपि च तामुपागमन् ॥३३॥

अपने राजा के कार्य को सोचता हुआ युद्ध-स्थल में चोट खा कर मरने के फलस्वरूप जो स्वर्ग चला गया वह सामने में प्रहार करने वाली जगदम्बिका को उस प्रकार देखता हुआ उत्तम गति को भी प्राप्त कर गया ॥३३॥

करेण चैकेन यदि प्रपेदिरे सुलड्डुकांस्ते दितिनन्दनास्तदा ।
परेण निर्यद्रसगव्यमोदकान् जगज्जनन्याः खलु तत्कृपाफलम् ॥३४॥

दैत्य लोगों ने यदि एक हाथ से रस भरे लड्डुओं को प्राप्त किया, तो जगदम्बा की कृपा से रस टपकते हुए रसगुल्ले को वे क्यों नहीं प्राप्त करते ? ॥३४॥

मृधे पुरो यज्जगदम्बिकायाः विलोकयन्तो विजहुः कलेवरम् ।
ततो दुरापामपि योगिनां गतिं गताः पुनर्नो जननाय भूतले ॥३५॥

युद्ध स्थल में जगदम्बा को सामने देखते हुए दैत्य लोगों ने शरीर छोड़ा और योगियों के लिए भी दुर्लभ गति को पाया, उसके फलस्वरूप भूमि पर फिर उनका जन्म नहीं होगा ॥३५॥

बलिं यतो वा विदधुर्निजां तनुं बलिप्रियश्रीजगदम्बिकान्तिके ।
न तत्कथं मुक्तिमुपेयुरञ्जसा भवन्ति मुक्ता हि बलित्वमागताः ॥३६॥

अथवा उपहारप्रिय जगदम्बा के सामने अपने को यदि समर्पित कर दिया तो वे लोग क्यों नहीं शीघ्र मुक्ति प्राप्त करते ? अपने को अर्पण करने वाले मुक्त होते ही हैं ॥३६॥

अथागतः कश्चन सैन्यनायको विचित्ररूपोऽतिबलो गदायुधः।
दिशोऽखिलाः स्वध्वनिनाऽनुनादयन् रणाङ्गणे चङ्क्रमणं चकार सः।३७।

बाद विचित्र रूप का अत्यन्त बली एवं गदाधारी कोई सेनानायक अपनी गर्जना से सारी दिशाओं को प्रतिध्वनित करता हुआ युद्ध क्षेत्र में आ कर पैंतरा करने लगा ।।३७।।

ततस्त्रिशूलेन हृदि क्षतोऽसुरो भुवं निषिञ्चन् क्षतजेन तत्क्षणम्।
स्वरूपिभिस्तत्र शतेन दानवैः समावृतः सन्ददृशे रणाजिरे ।।३८।।

शीघ्र ही देवी के द्वारा छाती में त्रिशूल से क्षत हो कर तत्काल अपने रक्त से भूमि को सींचता हुआ वह अपने ही समान रूप वाले सैकड़ों दानवों से घिरा हुआ युद्ध क्षेत्र में देखा गया ।।३८।।

वसुन्धरा तत्र रजःसमाकुला तदीयरक्तं खलु बीजबिन्दुकम्।
अवाप्य सद्यः सुषुवे तदाकृतीनसङ्ख्यकाँस्तद्वलदर्पभूयसः ।।३९।।

वहाँ की भूमि लाल रक्त रूप रजोगुण से भर गई और उसका रक्त ही बीज बन गया और तत्काल भूमि में प्रवेश करते ही उस रक्त ने उसी आकार-प्रकार के असंख्य बली दानवों को पुनः पैदा किया ।।३९।।

पुरश्च पश्चादुभयाच्च पार्श्वतः सशब्दमारादभिधावतां मृधे।
न निश्चिकायाथ निदानमस्य किं ततो निहन्येत कथं महाखलः ।।४०।।

आगे, पीछे, दोनों बगल से जोरों से गरजते हुए दैत्यों के बीच यदि यह निश्चय नहीं हो सका कि कौन आदि कारण है, तो महा दुष्ट को कैसे नष्ट किया जाए ? ।।४०।।

किमस्ति माया ? नहि सापि वर्तते न दिव्यलोके खलु शक्तिभागसौ।
समस्तमायोद्भवकारणे मयि कुतो न कस्यापि च सा प्रवर्तताम् ।।४१।।

क्या यह माया है ? तो नहीं, दिव्य लोगों के सामने माया की शक्ति नहीं चल सकती है। समस्त माया के रूप तो मैं ही हूँ; मेरे समक्ष किसी की माया नहीं चल सकती है ।।४१।।

यदिच्छया विश्वमिदं प्रसूयते प्रवर्तते संह्रियते निमेषतः।
तदग्रतः क्षुद्रतमा इमे कति क्षमाय नो स क्रियतेऽधुना मया ।।४२।।

जिसकी इच्छा से पलमात्र में यह संसार उत्पन्न होता है, रक्षित रहता है, और अन्त में नष्ट होता है, उसके सामने नष्ट होने के लिए ये नीच कितने हैं ? अतः अभी नष्ट होते हैं ।।४२।।

महातपस्येप्सितदेवतावरप्रदानजन्यं फलमेतदीयकम् ।
यदस्य भूमिं स्पृशति क्षतोद्भवे प्रजायते तत्सदृशस्तु बिन्दुतः ॥४३॥

इसका रक्त-बिन्दु भूमि पर गिरने से दूसरा वैसा ही तैयार हो जाय—यह किसी देवता की तपस्या द्वारा उनके प्रसन्न होने पर उनके द्वारा दिये गये वरदान का फल है ॥४३॥

अहो यदेतत्सकलाङ्गनिःसृतक्षतोद्भवा व्यापृणुयुर्धरामिमाम् ।
तदा त्रिवेदो भवितुं चतुःश्रुतिर्गतो द्विवेदस्तु भवन् समागतः ॥४४॥

अहा, यदि इसके सम्पूर्ण अंग से निःसृत रक्त से सारी पृथ्वी आच्छादित हो जायगी, तो कहा जायगा कि 'त्रिवेदी गये चतुर्वेदी बनने, किन्तु मात्र द्विवेदी बन कर ही लौटे' ॥४४॥

मदङ्गजाता जलदासितद्युतिर्भयङ्करव्यात्तमुखी पिबेद्यदि ।
मदायुधाच्छिन्नसुरादिदेहतो विनिर्गतं रक्तमतीव निर्वृतिः ॥४५॥

मेरे शरीर से निकली हुई घने बादल के समान काली, भयंकर मुँह बाये, यदि मेरे हथियार से छिन्न दैत्यों के देह से निकले हुए रक्त को पी जाय तो बड़ी शान्ति हो ॥४५॥

इति स्थिरीकृत्य नियुज्य चण्डिकां शिवा तदानीमरिरक्तभक्षणे ।
निकृत्य कुन्तैरसिभिस्तथेषुभिर्जघान रक्तोद्भवदैत्यनायकान् ॥४६॥

भगवती ने ऐसा ही निश्चित कर चण्डिका को रक्तभक्षण के लिए नियुक्त करके भाला, तलवार, बाण से काट कर रक्तोद्भव सेनानायकों को मार डाला ॥४६॥

शिवानिकृत्तासुररक्तपायिनी चचार चण्डी सगणा रणाङ्गणे ।
ननर्त्त मत्ता च जहास विस्वरं चकार मुण्डैर्विविधप्रमोदनम् ॥४७॥

भगवती द्वारा काटे गये असुरों के रक्त को पीने वाली चण्डिका अपने गणों के साथ युद्ध क्षेत्र में घूमने लगी तथा पागल-सी बन कर नाचने लगी। वह चिल्ला-चिल्ला कर हँसने लगी और मुण्डों से अपने गणों के साथ विविध खेल खेलने लगी ॥४७॥

देवा विलोक्य रणभूमितलस्य दृश्यं
चण्डीं च रक्तमधुपानविचित्रमत्ताम् ।
तामम्बिकां स्तुतिशतेन विधाय स्वस्थां
जग्मुः प्रमोदभरभासुरदेहकान्तिम् ॥४८॥

देवता लोग रणभूमि का दृश्य और रक्तरूपी मद्यपान से विचित्र मतवाली चण्डिका को देख कर तथा सैकड़ों स्तुति से उन्हें स्वस्थ एवं आनन्द समूह से चमत्कृत शरीर वाली बना कर चले गये ॥४८॥

सा चण्डिकापि सगणा निजमातृरूपदेव्या सकाशमगमन्मुदिताजितान्तम् ।
गौरी निरीक्ष्य सहसा विहसन्मुखीं तां भूरिप्रशंसितवती कृतचित्रकार्याम् ।४९।

वह चण्डिका भी गणों के साथ अपनी मातारूप भगवती के निकट अति प्रसन्न हो कर पहुँची । गौरी ने हँसती हुई प्रसन्न चण्डिका को एकाएक देख कर उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की क्योंकि उन्होंने विचित्र कार्य किया था ।।४९।।

इत्थं सा जगदीश्वरी रणमहे विद्युन्निभाभिस्तदा
देवाङ्गोद्भवशक्तिभिः सह महादैत्येन्द्रसैन्याधिपम् ।
हत्वा बन्धुसमन्वितं सुबलिनं तं रक्तबीजाख्यक-
मन्याँस्तत्सहयायिनश्च रुधिरक्षोदोद्भवान् प्रस्थिता ॥५०॥

वह जगदीश्वरी इस प्रकार उस युद्धोत्सव में बिजली के समान देवताओं के शरीर से प्रकट शक्तियों के साथ अत्यन्त बलशाली रक्तबीज नामक उस सेना-नायक को सैनिकों के साथ तथा उनके शरीर के रक्त से उत्पन्न होने वाले अन्य सहयोगियों को मार कर वहाँ से चली गई ।।५०।।

अथ मृतमवलोक्य सैन्यनाथं हतिरहिता दनुजाः पलायितास्ते ।
कथयितुमितिवृत्तमात्मनाथौ छलबलिनौ च निशुम्भशुम्भसंज्ञौ ॥५१॥

इसके बाद सेनानायक (रक्तबीज) को मरे हुए देख कर मर कर बचे हुए दैत्य इस वृत्तान्त को छली तथा बली अपने मालिक निशुम्भ-शुम्भ को कहने के लिए दौड़े ।।५१।।

इति श्रीदेवीचरिते महाकाव्ये सगणरक्तबीजबधो नाम दशमः सर्गः ।।

'श्रीदेवीचरित महाकाव्य' में अपने गणों के साथ रक्तबीज का बध नामक दशम सर्ग समाप्त ।।

एकादशः सर्गः

अथ योधनतः समागतानां गिरमाकर्ण्य भयात्प्रकम्पितानाम् ।
निधनं बलिनां बलाधिपानां विषसादापि रुरोष चापि शुम्भः ॥१॥

युद्ध क्षेत्र से लौटे हुए कम्पित हृदय दैत्यों के वचन सुन कर और बलशाली सेनानायकों की मृत्यु की खबर सुन कर शुम्भ विषण्ण भी हुआ और क्रोध से भर गया ॥१॥

यदि तादृशयुद्धदुर्जयास्ते प्रियमात्मप्रियजीवनैरजस्रम् ।
मम सर्वरसैर्विचेष्टमाना गमिता वीरगतिं स्त्रियेति लज्जा ॥२॥

यदि वैसे-वैसे युद्ध में अजेय, अपने प्रिय जीवन से भी हर प्रकार मेरे प्रिय, एक स्त्री से स्वर्गीय बनाये गये—यह लज्जा की बात है ॥२॥

कतिधा न निजौजसा महेन्द्रं हृतदर्पं कृतवान् गताधिपत्यम् ।
तमहं कथमक्षिगोचरं हा विदधे बन्धुसमं बलाधिनाथम् ॥३॥

जिस सेनानायक ने कितने प्रकार से अपने बल से महेन्द्र को घमण्ड रहित तथा पदच्युत किया था, बन्धु के समान उस सेनानायक को, हाय, कैसे देखूँ ? ॥३॥

श्रुतवान् खलु यत्प्रतापमुग्रं ज्वलनो जाड्यमितो दधार नार्चिः ।
अपहाय निजप्रदेशमञ्जः प्रययौ क्वापि कथं कथञ्चनैव ॥४॥

जिसके उग्र प्रताप को सुन कर अग्नि ने जड़ता धारण कर ली थी और जिसके डर से अपने स्थान को छोड़ कर किसी-किसी प्रकार भाग गयी थी ॥४॥

शमनोपि हि यद्भयात्सकम्पो निजराज्ये कृतपादमाकलय्य ।
निजदण्डमयस्मयं विहाय सहसैवापससार दूरदेशम् ॥५॥

जब मेरा सेनानायक यमराज के राज्य पर अपना अधिकार रखता था तो वह भी उसके भय से कांप उठे थे और अहंकार-रहित हो कर एकाएक अपना दण्ड हटा कर कहीं दूर भाग गये थे ॥५॥

धनदो धनदत्वमेत्य चापि न यदा प्रार्थयितुं बभूव धन्यः ।
निधिमक्षयमात्मनोऽपहाय प्रचचाल स्वपुराद्यदीयभीतेः ॥६॥

जिसके डर से कुबेर भी अपने सारे धन को प्रार्थनापूर्वक समर्पित करके भी

जब सफल नहीं हुए तब अपनी अक्षय निधि को छोड़ कर अपने नगर से भाग निकले ॥६॥

मिलिता अपि चेत्कदाचिदेते समरं कर्तुमुपस्थिताः समुत्काः।
विविधायुधसम्प्रहारदूना निशि युद्धे विरते पलायितास्ते ॥७॥

ये सभी कभी एकत्र हो कर उत्सुकता के साथ युद्ध करने के लिए यदि तैयार भी हुए तो रात में युद्ध विराम के बाद युद्ध में विविध अस्त्र-शस्त्रों के प्रहार से इतने दुःखी हो गये थे कि युद्ध से विमुख हो कर भाग गये ॥७॥

अहह ! प्रविहाय मामिहैव प्रतिजग्मुर्यदि कञ्चनान्यलोकम्।
यदि राज्यमिदं चिरं स्थिरं स्यात्सुखमेतस्य न तान् विना मम स्यात् ॥८॥

ओह ! वे हमारे साथी मुझे यहीं छोड़ कर किसी दूसरे लोक में चले गये। यदि यह राज्य बहुत काल तक स्थिर भी रहे, तो उनके बिना मुझे सुख नहीं प्राप्त हो सकता है ॥८॥

परिकर्त्त्य वशेन तानसंख्यान् पुनरन्यानपि तत्सखीन्नियोक्ष्ये।
कतमेन मुखेन तेपि भूयो वचनं मे खलु मंस्यते कथं वा ॥९॥

उन लोगों को हटा कर यदि उनकी जगह पर उनके असंख्य साथियों को नियुक्त करेंगे तो किस मुँह से करेंगे ? वे लोग मेरी बातें भी क्यों मानेंगे ? ॥९॥

अथवा वरसाहसा यदैते रभसा मद्वचनेन संप्रयुक्ताः।
स्मृतनैजविनाशदीप्तकोपाः प्रचलिष्यन्ति रणेपि का जयाशा ? ॥१०॥

अथवा उत्तम साहस रखने वाले लोग मेरे समझाने पर यदि एकाएक तैयार भी हो जाएँ तो युद्ध में जा कर अपने लोगों के विनाश की बात याद कर यदि क्रोधित हो जाएँ तो उनसे युद्ध में विजय की आशा कैसे की जा सकती है ? ॥१०॥

यदि तेन महाघनाङ्गभासः करचञ्चत्करवालचञ्चलास्ते।
अशकन् महसां निधिं न वामामपि निर्वापयितुं कथं तदेते ॥११॥

यदि वे सैनिक, जिनके शरीर की प्रभा चमत्कृत थी और जो हाथ में चंचल तलवार धारण किये हुए थे, उस तेजोनिधि स्त्री को नहीं सह सके और स्वयं निर्वापित हो गये, तो ये वीर कैसे समर्थ हो सकेंगे ? ॥११॥

अथवास्तु यदेव तद्विलोक्यं नहि चिन्ता वरसाहसापहर्त्री।
मनसापि कदाप्यहो विधेया तदुपायं विदधे पुनर्विजेतुम् ॥१२॥

अथवा जो भी स्थिति है उसे देख कर श्रेष्ठ साहस को दूर करने वाली

चिन्ता को मन में भी नहीं लाना चाहिए और विजय के लिए फिर उपाय करना चाहिए ॥१२॥

विजयः खलु साहसाश्रयोस्ति नहि चिन्तां समुपेक्षते कदाचित् ।
यदि सोपि विपक्षपक्षगः स्यात्पुनरायाति ससाहसं नरेन्द्रम् ॥१३॥

विजय साहस के ऊपर निर्भर करती है, वह कभी चिन्ता की अपेक्षा नहीं रखती । यदि वह शत्रु के पक्ष में चली भी गई हो, तो पुनः साहसी राजा के पास पहुँच जाती है ॥१३॥

कियदस्ति बलञ्च कुत्र पुंसीत्यपि को वेत्ति विना प्रयोगदर्शनम् ।
मम पक्षसमाश्रया न केपि बलहीना हतसाहसा बभूवुः ॥१४॥

किस पुरुष में कितना बल है, यह भी बिना उसके प्रयोग किये कौन जानता है ? मेरे पक्ष में रहने वाले कितने ही वीर साहस छोड़ देने से बलहीन हो गये ॥१४॥

यदि ते स्वजनाहतेर्विषण्णा अथवा भीरुतयाऽपसाहसाः स्युः ।
विविधैः खलु सान्त्वनावचोभिर्विनियोक्ष्ये निजकार्यसाधनाय ॥१५॥

यदि वे लोग अपने व्यक्तियों के मारे जाने से दुःखी हो कर या डर के मारे साहसहीन हो गये हों, तो अनेक प्रकार के सान्त्वनापूर्ण वचनों से उत्साहित कर उन्हें अपने कार्य साधन के लिए नियुक्त करता हूँ ॥१५॥

समभीप्सितकार्यसाधनं हि करणीयं बलतोपि युक्तितो वा ।
तदपायसमं न पापमन्यन्न हि पापात्फलमुत्तमं कदापि ॥१६॥

चाहे बल से या युक्ति से अपना अभीष्ट कार्य सिद्ध करना चाहिए; उपाय नहीं करने से बढ़ कर कोई दूसरा पाप नहीं है और पाप का फल उत्तम कदापि नहीं होता ॥१६॥

यदि ते हठधर्मिणो मदीयं मंस्यन्ते न वचो हितं कदाचित् ।
अहमेव तदा निजायुधैस्तान्निहनिष्यामि रिपून् सुहृत्समानान् ॥१७॥

यदि वे लोग कदाचित् हठधर्मी हो कर के मेरे हित की बात न मानेंगे, तो मित्र बने हुए शत्रु को अपने हथियारों से मार डालूँगा ॥१७॥

सुहृदस्ति स एव यो विनश्येत्सुहृदर्थे विदधीत वार्थसिद्धिम् ।
इतरः कपटेन मित्ररूपो, रिपुरुन्मूलयितव्य एव सद्भिः ॥१८॥

मित्र वही है जो मित्र के लिए जान दे अथवा उसका कार्य सिद्ध करे; अन्य लोग तो कपटी मित्र बने हैं; अतः अच्छे लोगों को चाहिए कि ऐसे शत्रुओं का उन्मूलन कर दें ॥१८॥

प्रकृतिः खलु सा च या नृपार्थे त्यजति स्वं सकलं सुखं तथान्यत् ।
इतरा मृगचर्मसंवृताङ्गी ध्रुवमस्तिच्छलतत्परा मृगेन्द्री ॥१९॥

प्रजा वह है, जो राजा के निमित्त अपने सारे सुखों को तथा और भी सब कुछ त्याग करता है; अन्य लोग तो हरिण के चर्म से ढकी हुई शेरनी की तरह धोखेबाज हैं ॥१९॥

श्रयते यदि सर्वथा नरेन्द्रं प्रकृतिः सापि च तेन रक्षणीया ।
कपटेन निजार्थसाधनोत्का हननीया समयं समीक्ष्य सैव ॥२०॥

प्रजा यदि राजा की सब प्रकार से सेवा करती है तो राजा से भी वह रक्षित रहती है, किन्तु जो प्रजा कपट से अपने स्वार्थ साधन में तत्पर रहती है उसे तो समझ कर समय से मारना ही चाहिए ॥२०॥

प्रकृतिर्हि नृपाङ्गमस्ति तत्सा सततं रक्षणयोग्यतामुपैति ।
यदि तद्विकृतिं भजेत्कथञ्चिद्धितमिच्छद्भिररं निपातनीया ॥२१॥

प्रजा राजा का अंग है; अतः वह सदा रक्षणीय है । यदि वह किसी प्रकार विकृत हो जाय, तो उसे शीघ्र काट ही डालना हितकर है ॥२१॥

विकृतं सुतरां न हीयते चेत्प्रियमङ्गं सकलं हिनस्ति देहम् ।
इति साधु समीक्ष्य पथ्यविद्भिर्व्यवहार्यं सततं प्रजाङ्गकेषु ॥२२॥

विकृत अंग को यदि अच्छी तरह नहीं काटा जाय, तो वह सम्पूर्ण शरीर के प्रिय अंगों को नष्ट कर देता है; इस प्रकार हित चाहने वाले को प्रजारूपी अंग का सदा समझ-बूझ कर व्यवहार करना चाहिए ॥२२॥

मतिरस्ति निशातमायुधं मे विदधे तेन समीहितं हि सर्वम् ।
न कदापि विकुण्ठतां प्रयाति विहिते कर्मणि तीक्ष्णतामुपैति ॥२३॥

मेरी बुद्धि ही तेज तलवार है; उसी के द्वारा मैं सभी अभीष्ट पूरा करूँगा । मेरा वह हथियार कभी थोथा नहीं होता; जितना उस से काम लिया जाता है, उतना ही वह तेज होता है ॥२३॥

व्यवहारविदश्चरा मदीया विकृतिं नैव गता विलोचनानि ।
सकलं समवेक्ष्य तैर्विधास्ये न च कार्यच्युतिकल्पनापि कार्या ॥२४॥

मेरे गुप्तचर व्यवहारकुशल हैं; वे मेरे नेत्र हैं जो विकृत नहीं हुए हैं । उन्हीं के द्वारा सब कुछ देख कर मैं कार्य करूँगा और ऐसा करने से कार्य में हानि की तो कल्पना भी नहीं करने लायक है ॥२४॥

इति चिन्तयति स्वकाग्रजेऽथ शुम्भे समुपेतो दनुवंशजो निशुम्भः ।
अवलोक्य विषण्णमानसं तं निजगाद त्वरितं गम्भीरवाक्यम् ॥२५॥

अपने बड़े भाई शुम्भ के इस प्रकार सोचते समय दानववंशीय निशुम्भ वहाँ पहुँच गया और अपने भाई को विषण्ण हृदय देख कर शीघ्र ही गम्भीर वचन बोला—॥२५॥

किमिदं वदने त्वदीयकेऽस्मिन्नवलोकेऽद्य विषादलक्ष्म किञ्चित् ।
शनकैश्च शिरोपि कम्पते यन्निटिलं चापि निरीक्ष्यते त्रिरेखम् ॥२६॥

'क्या बात है ? आज आप के मुख पर विषाद का चिन्ह दीख रहा है, चिन्ता से सिर हिल रहा है तथा ललाट पर तीन रेखाएँ दीख रही हैं ॥२६॥

जगदेकमहाबले ! त्वदीयेऽवरजे जीवति जीविताात्प्रियेऽस्मिन् ।
यदि शोकसमाकुलं मनस्ते धिगिमं धिक्खलु जीवितं मदीयम् ॥२७॥

'संसार में एक ही वीर हैं जो जीवन से भी अधिक आप का प्यारा है। इसे जीवित रहने पर यदि आपका मन शोक से आकुल है, तो मेरे जीवन को धिक्कार है ॥२७॥

अवलोक्य सचिन्तमग्रजं यस्तदुपायं विदधाति नैव मूढः ।
जनकस्तु तदुद्भवे वृथैव विदधे श्रान्तिमसौ न वास्ति तज्जः ॥२८॥

'जो मूढ़ अपने बड़े भाई को चिन्तित देख कर यदि उसे (चिन्ता को) दूर करने का उपाय नहीं करता है, तो उसके पिता ने उसके जन्म के समय में व्यर्थ ही परिश्रम किया था अथवा वह (छोटा भाई) उससे पैदा हुआ है ही नहीं ॥२८॥

ध्रुवमस्ति पिताऽग्रजो द्वितीयः पितृवन्मानमतोर्हतीति बोध्यम् ।
हृदये नहि भाव एष यस्य जनितोसौ कुलकिल्विषं कथञ्चित् ॥२९॥

'निश्चय ही बड़ा भाई एक दूसरा पिता है और उसे पिता के समान समझना चाहिए। जिसके हृदय में यह भाव नहीं है, वह कुल का कलंक ही है ॥२९॥

अथवा न सहोदरौ विभक्तौ व्यवहारार्थमिमौ पृथक् स्वरूपौ ।
मनुजस्य यथा करौ च पादौ नयने श्रोत्रयुगादिकं बभूवुः ॥३०॥

'अथवा दो सहोदर भाई अलग-अलग नहीं हैं; केवल लोकव्यवहार के लिए वे दो स्वरूप से वर्तमान रहते हैं जैसे मनुष्य के हाथ और पैर, आँख और कान दो हैं ॥३०॥

दशति क्वचिदेकमस्य कीटः करमन्यो न निराकरोति किं तम् ।
यदि सोदरयोर्न तादृगस्ति प्रणयस्तत्खलु तौ वृथैव जातौ ॥३१॥

'यदि एक हाथ को कोई कीड़ा काटता है तो क्या दूसरा हाथ उसे हटाने के

लिए नहीं दौड़ पड़ता ? दो भाइयों में यदि वैसा प्रेम नहीं है, तो वे दो रूप से व्यर्थ ही पैदा हुए ॥३१॥

अनुशाधि ततो द्रुतं रणाय शमयैतां महसां निधिं च वामाम् ।
निहता बलिनोपि चेन्मदीया मदुपेक्षैव निदानमस्ति तत्र ॥३२॥

'इसलिए उस तेजोनिधि स्त्री का तेज शान्त करने के निमित्त मुझे युद्ध करने के लिए तुरन्त आज्ञा दीजिए। यदि मेरे बलवान् लोग मारे भी गये हैं तो इसमें मूल कारण है कि हमलोगों ने उसे प्रतिद्वन्द्वी औरत समझ कर पूर्ण ध्यान नहीं दिया है ॥३२॥

दिगिभेन्द्रसमन्विता दिगीशाः समरे मामवलोक्य दूरतो यत् ।
रभसात्परिशुष्यदाननास्ते प्रययुस्तन्मदुपेक्षिता निदानम् ॥३३॥

'दिग्गज के साथ दिक्पाल लोग संग्राम में दूर से ही मुझे देख कर सूखा-सा चेहरा बना कर भाग खड़े हुए थे और मैंने उन्हें भागता हुआ देख कर उनकी उपेक्षा की थी ॥३३॥

यदि तेपि बलाधिकाः समक्षं रणभूमौ कृतसाहसा न तस्थुः ।
अबला सरसीरुहाङ्गयष्टिर्न कदाचिन्मम सम्मुखे स्थिता स्यात् ॥३४॥

'यदि वे वीर लोग युद्ध क्षेत्र में साहस करके भी सामने न ठहर सके थे, तो कमलिनी लता के समान कोमलाङ्गी अबला मेरे सामने कदापि न ठहर सकेगी ॥३४॥

ध्रुवमेव ततः प्रगाढचिन्तां शुभकार्यंप्रतिघातिनीमपास्य ।
अनुशाधि रणाय तूर्णमेव प्रबलं मामधुना निजानुरूपम् ॥३५॥

'अतः शुभ कार्य में बाधा पहुँचाने वाली गाढ़ी चिन्ता को निश्चय ही छोड़ कर अपने समान ही बलवान् मुझे युद्ध के लिए शीघ्र ही अभी आज्ञा दीजिए' ॥३५॥

इति वाक्यमसौ निशम्य शुम्भो हृदयेनानुजमालिलिङ्ग गाढ़म् ।
अभिषिच्य च नेत्रवारिभिस्तं निजगाद प्रणयेन वीतचिन्तः ॥३६॥

शुम्भ ने इस बात को सुन कर अपने छोटे भाई को हृदय से गाढ़ालिंगन किया और आँसुओं से उसे सींच कर चिन्तारहित हो कर वह प्रेम से बोला—॥३६॥

सदृशं निजवंशभूषणानां वचनं तर्पयते तवाधिकं माम् ।
न तु वीरशिरोमणे नियोक्तुं गहने कर्मणि साहसं ममास्ति ॥३७॥

'अपने वंश में उत्पन्न भूषणों के समान ही तुम्हारा वचन मुझे अत्यन्त तृप्त

कर रहा हूँ। परन्तु, हे वीर शिरोमणि! इस कठिन काम में तुझे नियुक्त करने का मेरा साहस नहीं है ॥३७॥

अहमेव ततो व्रजामि संख्ये गृहकृत्यं त्वयि संनियोज्य सर्वम्।
विजयस्तु करस्थितोऽस्मदीयो नचिरान्मामवलोकसे कृतार्थम् ॥३८॥

'इसलिए घर के कार्यों का सारा भार तुझे सौंप कर युद्ध के लिए मैं ही जाता हूँ। विजय तो हम लोगों के हाथ में है ही। मुझे सफल हो कर लौटे हुए तुम शीघ्र ही देखोगे। (होनहार मुँह से निकल जाता है; 'नहीं देखोगे' भी इसका अर्थ हो सकता है।) ॥३८॥

अथवा प्रतिकूलमेव दैवं तदपि त्वं कुलमुज्ज्वलं विदध्याः।
मयि वीरगतिं गतेऽपि तस्याः क्षतजैस्तर्पयसेऽथ मां सतृष्णम् ॥३९॥

'अथवा यदि भाग्य प्रतिकूल ही हो जाए तो तुम अपने कुल को उज्ज्वल बना देना और मेरे वीरगति पाने के बाद भी उस स्त्री के रक्त से मुझे तर्पण कर देना जिसके लिए मैं प्यासा रहूँगा।' (यहाँ पर भी 'उज्ज्वल' शब्द में दो 'ज' के उच्चारण से 'एक दम जला देना' अर्थ हो जायगा। यह भी अमंगल वाक्य उसके मुँह से निकल पड़ा है।) ॥३९॥

अलमित्थमये! निगद्य दीनं झटिति प्रेषय मां रणाङ्गणे त्वम्।
नहि चेन्निजजीवनं शपामि निजगादेति गिरं तदा निशुम्भः ॥४०॥

'अये भाई! इस प्रकार दीन वचन बोलना व्यर्थ है। अभी तुरन्त मुझे युद्ध में भेजिए। नहीं तो अपनी जान दे दूँगा', उस समय निशुम्भ दृढ़तापूर्वक ऐसा वचन बोला ॥४०॥

इति वक्षि यदि प्रयाहि योद्धुं विदधे किं, न हि किञ्चनास्ति वाच्यम्।
कुलदैवतमत्र शर्म कार्ये गहने चारु विधास्यते विधेये ॥४१॥

'यदि तुम ऐसा कहते हो कि युद्ध करने को तुझे भेजूं, अब सिवा आज्ञा देने के मेरे पास कोई शब्द नहीं है। ऐसे गहन कार्य में कुल के देवता ही सुन्दर कल्याण करेंगे' ॥४१॥

विविधायुधसज्जिताङ्ग इत्थं मदताम्रद्युतिलोचनश्चचाल।
परिशङ्कितमानसा बलौघा अपि प्रययुर्द्रुतं रणाय ॥४२॥

इस प्रकार निशुम्भ नशे से लाल आँखें किये हुए अनेक प्रकार के आयुधों से सुसज्जित हो कर चला। अत्यन्त शंकितहृदय सेना-समूह भी शीघ्र ही युद्ध के लिए चला ॥४२॥

अथ वीक्ष्य शिवां जगाद दैत्यो दनुवंशज्वलनस्वरूपिणि ! त्वम् ।
अयि ! तिष्ठ निजास्त्रधारयाद्य प्रसभं त्वां शमये स्वभाववामाम् ॥४३॥

इसके बाद भवानी को देख कर दैत्य बोला—'हे दानव-वंश में आग लगाने वाली स्त्री ! ठहरो अभी अपने हथियार की धार से स्वभाव से ही वाम तुझे बलात् शान्त करता हूँ' ॥४३॥

इति वाचमसौ निशम्य चण्डी कृतचण्डस्वनमुच्चकैर्विहस्य ।
समुपागत ? एहि दर्शयारं बलवन्नद्य बलं चिरार्जितं स्वम् ॥४४॥

इस बात को सुन कर वह चण्डी भयंकर शब्द करके जोरों से हँस कर बोली—'हे बलवान् ! तुम आ गये ? आओ बहुत दिनों का उपार्जित अपना बल आज दिखाओ' ॥४४॥

इतिवाक्कुलिशाहतो यथासौ रभसोत्पत्य विकृष्य चासिमारात् ।
दनुजोपि पुरो जगाम तस्या कुसुमं तद्वचनं कदापि वज्रम् ॥४५॥

इस प्रकार वाग्वज्र से चोटाया-सा वह दैत्य वेग से उछल कर और झट से तलवार खींच कर उस देवी जी के समीप पहुँच गया। देवी जी का वचन कभी फूल और कभी वज्र बन जाता था ॥४५॥

प्रसमीक्ष्य समागतं समीपे सहसा सापि सशक्तिका ससैन्यम् ।
निशितैर्विविधायुधैः प्रहर्तुं समुपारब्धवती शिवा सहासा ॥४६॥

देवी जी ने निकट में सेनाओं के साथ आये उस दैत्य को देख कर अपनी शक्तियों के साथ अनेक तीखे आयुधों से हँसती हुई प्रहार करना आरम्भ कर दिया ॥४६॥

बलवद्बलनायकस्य हस्तौ बलवत्पाशवरेण कापि सासी ।
निबबन्ध यतोऽशकत्प्रहर्तुं न कथञ्चित्तु चुकूर्द केवलं सः ॥४७॥

शीघ्र किसी शक्ति ने बलवान् सेनानायक के हाथों को अत्यन्त शक्तिशाली पाशास्त्र से जकड़ दिया, जिससे वह प्रहार न कर सका और केवल उछल-कूद करने लगा ॥४७॥

अथ कापि कमण्डलोर्जलेन परिपूतेन समापतन्तमारात् ।
विदधेऽन्यबलाधिपं तथासौ न यथा पादमपि प्रयातुमीशे ॥४८॥

बाद किसी शक्ति ने वेग से निकट आते हुए किसी दूसरे सेनानायक को अपने कमण्डलु के पवित्र जल से वैसा बना दिया कि वह एक डेग भी आगे न बढ़ सके ॥४८॥

कुलिशेन च कस्यचित्सुरेशा कुलिशस्यैव समं जघान वक्षः ।
निपपात विनिर्गताक्षिजिह्वो भुवि रुद्धश्वसितस्तथान्यदैत्यः ॥४९॥

इन्द्र की शक्ति ने अपने वज्र से किसी अन्य सेनानायक की वज्र के समान छाती में प्रहार किया जिससे उसकी आँखें और जीभ निकल आई, उसका श्वास रुँध गया और वह भूमि पर गिर गया ॥४९॥

शितशूलप्रहारभिन्नवक्षा गमितः कोपि दिवञ्च कश्चनान्यः ।
वरचक्रनिकृत्तकण्ठदेशः पतितः कौ परिचेष्टते समन्तात् ॥५०॥

कोई दूसरा सेनानायक तीखे शूल के प्रहार से विदीर्ण हृदय हो कर स्वर्ग भेज दिया गया। कोई दूसरा तीखे चक्र से गर्दन उतर जाने के बाद पृथ्वी पर गिर कर चारों ओर छटपटाने लगा ॥५०॥

आयातं सा चण्डिका वीक्ष्य शत्रुं पाशास्त्रेणादाय कण्ठं तदीयम् ।
भित्त्वा वक्षस्तीव्रशूलेन वेगान्निश्चेष्टं तं संगरे संव्यधत्त ॥५१॥

तब उस चण्डिका ने शत्रु को आते हुए देख कर पाशास्त्र से उसके गले को पकड़ कर तीखे शूल के द्वारा वेग से उसे उस युद्ध में चेष्टा रहित बना दिया (मार डाला) ॥५१॥

हर्षोत्कर्षं भेजिरे दैवतानि शोकोद्रेको दैत्यवर्गे तदाऽभूत् ।
पीत्वा मद्यं शक्तिभिः स्वैर्गणैश्च सार्धं चण्डी संननर्ताधिजन्यम् ॥५२॥

देवसमूह ने आनन्द मनाया और दैत्य-दल में शोक छा गया। इधर चण्डी शक्तियों तथा अपने गणों के साथ मद्य पी कर संग्राम में ही खूब नाचने लगी ॥५२॥

इति श्रीदेवीचरिते महाकाव्ये शुम्भ चिन्ता निशुम्भवधोनाम
एकादशः सर्गः ।

'श्रीदेवीचरित महाकाव्य' में शुम्भ की चिन्ता और निशुम्भ का
वध नामक एकादश सर्ग समाप्त ।

द्वादशः सर्गः

अवगत्य जना रणोद्भवं परिणामं मिलिताः समन्ततः।
महतीं विदधुः सभामथो विचिकित्सां समयोचितां तथा ॥१॥

जब जन-समूह ने युद्ध का परिणाम जाना तो सब ओर से आ कर एकत्र हो कर उन लोगों ने बहुत बड़ी सभा की और उस सभा में समयोचित विचार-विमर्श होने लगा ।।१।।

परितस्तृणसङ्कुलां धरामुपविष्टेषु जनेषु कश्चन।
अधिरुह्य शिलां गुरुध्वनिः परिवक्तुं सुतरां प्रचक्रमे ॥२॥

घासीली जमीन पर चारों ओर सबके बैठ जाने के बाद पत्थर की चट्टान पर चढ़ कर एक ने गम्भीर आवाज में बोलना प्रारम्भ किया— ।।२।।

अयि सत्पुरुषाः समागताः शृणुतास्मद्वचनं समाहिताः।
व्यसनं समुपस्थितं महन्नृपतेरद्य विधीयतां च किम् ? ॥३॥

'हे समागत सज्जनो ! सावधान हो कर हमारी बातें सुनें। इस समय हमारे राजा के लिए आफत का समय आ गया है। क्या करना चाहिए ? ।।३।।

स नृपः परिपाति पुत्रवत्प्रकृतीर्यः खलु ताश्च तं तथा।
पितृवत्सततं हि मन्वत उभयेष्वेष विनिर्णयः शुभः ॥४॥

'राजा वह है जो पुत्रवत् प्रजाओं का पालन करता है और तब प्रजा भी उसे पिता के समान मानती है। दोनों का यह निर्णीत व्यवहार अच्छा है ।।४।।

यदि स व्यवहारमुत्तमं कुरुते तासु न लाति तत्फलम्।
अपि ता नियमे स्थिरा न चेत्फलमस्याश्नुवते तदा ध्रुवम् ॥५॥

'यदि वह (राजा) उनके (प्रजाओं के) प्रति उत्तम व्यवहार नहीं करता, तो उसका फल वह पाता ही है। यदि प्रजाएँ भी नियम का पालन नहीं करतीं तो उसका फल उन्हें भी भुगतना ही है ।।५।।

नृपतिर्यदि लङ्घितावधिर्नियमं स्वं सुतरां न रक्षति।
अनुकुर्वत एव तत्प्रजा ध्रुवमेतस्य सदानुगाश्च ताः ॥६॥

'राजा यदि निर्दिष्ट समय की मर्यादा का उल्लंघन कर अपने नियम का पालन नहीं करता, तो निश्चय ही प्रजा भी उसका अनुकरण करती है। क्योंकि प्रजा तो सदा राजा की अनुगामिनी रही है ।।६।।

अथ सम्प्रति चिन्त्यतामिदं कुरुतेऽस्मासु नृपः स कीदृशम् ।
यदि साधु विधीयते तदा ह्युचितस्तत्सहयोग एव नः ॥७॥

'अब तो इस समय यही सोचना है कि राजा हम लोगों के साथ कैसा व्यवहार कर रहा है । यदि अच्छा कर रहा है, तो हम लोगों को उसका सहयोग देना उचित है ॥७॥

अथवा निजकार्यसाधकः कुरुतेऽस्मासु स कैतवं तदा ।
नियमेन तथाऽन्यतोऽपि वा, नृपतिः कोपि भवेद्धि का क्षतिः ॥८॥

'अथवा राजा यदि अपना स्वार्थ साधन करता है और हमारे साथ कपट का व्यवहार करता है तो राजा-प्रजा के नियमानुसार दूसरे से भी वैसा व्यवहार मिले तो क्या हर्ज है ?' ॥८॥

इति वाग्विभवेन तर्पिताः सकलास्तत्र समागता जनाः ।
प्रशशंसुरनेकशो वरं वरमित्यूचुरमुं सगद्गदम् ॥९॥

इस प्रकार की वाक्सम्पत्ति से सभी आगत जन तृप्त हो गए और वे अनेक प्रकार से 'वरम् वरम्' कह वक्ता की भी प्रशंसा करने लगे । उसकी वाणी हर्ष से गद्गद् हो रही थी ॥९॥

भवतामिति सम्मुखेऽधुना समुपाख्यापि विविच्य यन्मया ।
अपि तत्र विचार्यतां बुधैरभिधायेत्युपविष्टवानसौ ॥१०॥

आप लोगों के सम्मुख इस समय मैंने जो कुछ भी कहा है उस पर विद्वान् विचारवान् लोग भी विचारें । यह कह कर वह बैठ गया ॥१०॥

अथ कोपि समुत्थितो द्रुतं करमुद्यम्य नदद्घनो यथा ।
निजगाद वचो निशम्यतामयि सन्तः समुपागता मम ॥११॥

शीघ्र ही एक व्यक्ति झट से खड़ा होकर हाथ उठा कर बादल गरजने के जैसा बोला—'ऐ उपस्थित सज्जनो ! मेरी बात सुनिए— ॥११॥

व्यवहारमसौ सदातनं कुरुतेऽस्मासु यथा नराधिपः ।
विदितो भवतामहर्निशमनुभूतः स च सम्यगेव हि ॥१२॥

'हमारे महाराज हमलोगों के प्रति जैसा व्यवहार करते हैं वह आप लोगों को ज्ञात है एवं भलीभाँति अनुभूत है ॥१२॥

अधुना स्मरणार्थमेव यद् भवतां किञ्चिदुपस्थितोस्म्यहम् ।
अवधानतया निशम्यतां वचनं तच्च विविच्यतां बुधाः ॥१३॥

'हे समझदार लोग ! उन्हीं बातों को याद दिलाने के लिए मैं उपस्थित हुआ हूँ । सावधान हो कर उस वचन को सुनिये और खूब सोचिए ॥१३॥

सततं परिकुर्वतां श्रमं शिथिलं नः सुशरीरवन्धनम् ।
दयते न तथापि किञ्चन हरति स्वं सकलं बलादपि ॥१४॥

'हे महाशयो ! बराबर परिश्रम करते हुए हमलोगों के शरीर की सन्धियाँ ढीली पड़ गई हैं । तब भी राजा दया नहीं करता, जबरदस्ती भी सब धन हरण कर लेता है ॥१४॥

पिशितं परितक्ष्य शोणितं परिशेष्यापि च यत्प्रजा श्रमम् ।
कुरुते दयते न तत्र चेन्नृपतिर्नो पिशिताशनो हि सः ॥१५॥

'मांस छील कर और रक्त सुखा कर भी जो प्रजा परिश्रम करती है और तब भी राजा यदि उस पर दया नहीं करता, तो निश्चय ही वह मांस-भक्षी है ॥१५॥

यदि किञ्चन दुःखमात्मनः पुरतस्तस्य निवेद्यते जनैः ।
दयते न शृणोति नैव तन्नितरां भर्त्सयतेऽदयोदयः ॥१६॥

'यदि उसके निकट जा कर कोई अपना दुःख निवेदन करता है, तो उसके दुःख को अत्यन्त दया करके वह सुनता नहीं है, बल्कि उल्टे निर्दयतापूर्वक डाँट देता है उसे ॥१६॥

अवलोक्य सिरास्थिचर्मभिः परिणद्धां नृपतिः प्रजां निजाम् ।
करुणारसपूरितान्तरो न भवेच्चेन्मृगयुर्न भूमिपः ॥१७॥

'जिस राजा के हृदय में नसों, हड्डियों और चमड़ी से ढकी हुई कंकाल रूपी प्रजा को देख कर करुणा का संचार नहीं होता तो वह राजा नहीं व्याधा है ॥१७॥

श्रुतवानपि यो धराधिपः प्रकृतेरार्तरवं न पीड्यते ।
अहहेति वदन् करोति नो तदुपायं स कथं प्रजाधिपः ॥१८॥

'जो राजा प्रजा का करुणापूर्ण आर्त्त रुदन सुन कर भी पीड़ित नहीं होता, 'ओह ! ओह !!' शब्द उसके मुँह से नहीं निकल पड़ते और उसके निराकरण का उपाय नहीं करता, तो वह राजा कैसा ? ॥१८॥

अरिभिः समुपस्थिते रणे प्रसभं प्रेषयते निजाः प्रजाः ।
अपहाय निजान्वयोद्भवानपदाक्षिण्यगुणो न मान्यताम् ॥१९॥

'यदि कोई शत्रु चढ़ाई करता है तो युद्ध करने के लिए वह अपने वंशजों

को नहीं भेज कर केवल प्रजाओं को भेजता है तो दाक्षिण्य गुणों से रहित (समदर्शिता से अलग) उसे राजा नहीं मानना चाहिए ।।१९।।

नृपतत्प्रकृतिष्ववस्थितः प्रणयश्चेन्नृपतिः प्रजा अपि ।
उभयेष्वथ चेन्निजार्थता सकलास्तेपि समाः समा यतः ।।२०।।

'यदि राजा और प्रजा में प्रेम हो तो राजा और प्रजा, और यदि दोनों में स्वार्थ हो तब भी, वे दोनों ही समान हैं ।।२०।।

सततं निजकार्यसाधने पटुरस्मात्प्रणयच्युतो यदि ।
अधुना रिपुसङ्कटे स्थिते प्रतिजानीत दयां सदातनीम् ।।२१।।

'यदि अपना कार्य सिद्ध करने में प्रवीण हो, इस कारण प्रेमच्युत हो जाय, तो इस समय शत्रु के द्वारा संकट आ जाने पर दया की ही प्रतिज्ञा करनी चाहिए । दया तो शाश्वत चीज है ।।२१।।

वयमस्य तदा जनैर्धनैस्तनुभिश्चापि सहायतोद्यमम् ।
विदधीमहि नान्यथा त्वसौ कथमप्यादरणीय एव हि ।।२२।।

'इसलिए वैसे समय पर हमलोगों को जन से, धन से, तन से सहायता के लिए उद्योग करना चाहिए । इसके विपरीत नहीं जाना चाहिए । किसी प्रकार से वह (राजा) आदरणीय ही होता है ।।२२।।

रसनामिति सश्रमां निजां विदधत्स्वासनमाविवेश सः ।
अथ तत्र समुत्थितोऽपरः प्रतिवक्तुं तरसा प्रचक्रमे ।।२३।।

वह (जो बोल रहा था) अपनी जीभ को विराम देता हुआ अपने आसन पर बैठ गया । इसके बाद दूसरे ने वहाँ उठ कर वेग के साथ बोलना आरम्भ किया— ।।२३।।

दयनीयतरेषु चेदसौ दयतेऽस्मासु न भूपतिर्लघु ।
इह निर्दयता न कारणं न दशा नः श्रुतिमेव गच्छति ।।२४।।

'वह राजा यदि दयनीय हमलोगों पर कुछ दया नहीं करता है, तो यहाँ पर निर्दयता कारण नहीं है; हमलोगों की बातें उनके कानों तक नहीं पहुँचती हैं ।।२४।।

उदरम्भरितापरायणा सततं चाटुकृतो नृपान्तिके ।
दयनीयकृतार्तनिस्वनश्रवणोत्काः खलु किङ्करा भुवि ।।२५।।

'राजा के यहाँ ऐसे नौकर रहते हैं जिनका काम है अपना पेट पालना और सदा राजा की चापलूसी करना तथा दयनीय प्रजाओं की चीत्कार सुनने के लिए उत्सुक रहना ।।२५।।

नृपतिर्निजनेत्रतो नहि श्रुतितः पश्यति दूततोऽपि वा।
विकृता यदि ते प्रतारणां विदधीरन् हि कथं स दोषभाक् ॥२६॥

'दूर-दूर तक अपने राज्य में क्या हो रहा है, यह राजा अपनी आँखों से तो देखता नहीं, केवल कानों से ही देखता है। (वैसे चापलूस नौकरों से) यदि राजा लोग बिगाड़ दिये गए हों और दण्ड देते हों, तो इसमें उनका क्या दोष है ? ॥२६॥

नृपतिर्न करग्रहादिनियमं सन्तनुते स्वयं न हि।
अधिकारमिमं ददौ करे सदसस्तस्य तु दूषणं किमु ॥२७॥

'राजा कर लगाने, कानून बनाने में भी अपना हाथ नहीं रखता, बल्कि यह अधिकार संसद् के हाथ में उसने दे रखा है। तो उसका दोष ही क्या है ? ॥२७॥

मधुरं नृपसन्निधौ वदन् गरलं सिञ्चति चेत्प्रजान्तिके।
विषवृक्षमसौ निजार्थकं सुधया सिञ्चति नाशहेतुकम् ॥२८॥

'जो राजा के निकट प्रिय बोलता है और प्रजाओं में विष छिड़कता है, वह स्वार्थ रूपी विष-वृक्ष को (प्रिय वचन रूपी) अमृत से सींचता है, जो नाश का कारण है ॥२८॥

नृपतिः सकलामरांशतः प्रकटं याति महामहोदधिः।
अत एव न कोपि तं सुरः प्रसभं जेतुमलं कदाचन ॥२९॥

'राजा सभी देवताओं के अंश से उत्पन्न होता है। वह महासमुद्र है। इसी लिए कोई देवता भी कभी राजा को बलात् जीतने में समर्थ नहीं होता ॥२९॥

विबुधो यदि पूज्यतां गतो नृपतिः पूज्यतमस्ततोपि च।
सततं हि ततो नराधिपो भजनीयो न तिरस्क्रियार्हकः ॥३०॥

'देवता यदि पूजनीय हैं तो राजा तो उससे भी अधिक पूजनीय हैं। इसलिए राजा सदा से वन्दनीय है, तिरस्कार के योग्य नहीं ॥३०॥

न नृपो यदि रक्षको भवेत्क्षणमात्रं कुशली न कश्चन।
परितो विचरन्ति निर्भयाः खलसङ्घाः परपीडनोद्यताः ॥३१॥

'राजा यदि क्षणमात्र के लिए भी रक्षक न रहे, तो किसी का भी कुशल नहीं है, क्यों कि दुष्टों के समूह दूसरों को सताने के लिए तैयार हो कर चारों ओर घूमते रहते हैं ॥३१॥

कठिने समये समागते नृपतिस्तत्परिरक्षणं न हि।
निजरक्षणमेव तद्बुधैः करणीया खलु तत्सहायता ॥३२॥

'कठिन समय आ जाने पर यदि राजा प्रजा की रक्षा नहीं करता है तो

समझदारों को चाहिए कि अपनी ही रक्षा के लिए वे राजा की सहायता करें ।।३२।।

नृपतौ परिसङ्कटे स्थिते न हि तत्त्राणमपेक्षते तु यः।
निरये परिपच्यते जनो न हि निस्तारमुपैत्यसौ ततः ॥३३॥

'संकट में फँसे हुए राजा की रक्षा जो नहीं करता है, वह आदमी नरक में वास करता है और उससे उसका निस्तार कभी नहीं है ।।३३।।

निजकर्मफलं समश्नुते सकलः सन्ततमेव सर्वथा।
परकर्मसु हीयतां स्पृहा निजकर्मस्ववधीयतां मनः ॥३४॥

'सब सदा ही हर प्रकार से अपने किए हुए कर्म का फल पाते हैं। दूसरे के कर्म से डाह नहीं रखनी चाहिए; अपने कर्म का ही ध्यान रखना चाहिए ।।३४।।

कुरुते शुभक ं कोपि चेदपरस्तत्फलमश्नुते न हि।
अतएव सुकर्मतत्परैर्भवितव्यं सकलैर्जनैः सदा ॥३५॥

'जो कोई अच्छा कर्म करता है उसका फल दूसरा नहीं भोगता है। इसलिए सभी लोगों को सदा अच्छे कर्म में तत्पर रहना चाहिए ।।३५।।

यदि पश्यति कोपि कस्यचिदुपकारं परिकुर्वतः क्वचित्।
समये समुपस्थिते न तं जडचेता अपि विस्मरत्यसौ ॥३६॥

'यदि कोई भी किसी को कभी उपकार करते देखता है, तो समय आने पर मूर्ख भी उसे नहीं भूलता ।।३६।।

अधुना सकलाः समुद्यता अबलाया रणखर्जनं बलात्।
अपनीय जयध्वजं निजं बलवन्तो द्रुतमुच्छ्रयामहे ॥३७॥

'इसलिए इस समय हम सब वीर लोग उस अबला के युद्ध करने की खुजलाहट को बलपूर्वक दूर करने को तैयार हो कर उसकी शान को मिटा कर अपने विजय के झण्डे को फहरा दें'।।३७।।

अनुजस्य निशम्य संक्षयं स च शुम्भो नितरां प्रतप्तवान्।
अति मूढ इव क्षणादभूच्छिथिलः शून्यविवेकशक्तिकः ॥३८॥

इधर शुम्भ अपने भाई के विनाश की खबर सुन कर सदा सन्तप्त था। कुछ क्षण के लिए तो अत्यन्त विवेकशक्तिशून्य हो कर अत्यन्त मूर्ख के जैसा शिथिल पड़ गया था ।।३८।।

कुलिशाहततालवृक्षवज्ज्वलितच्छिद्रवदन्तरोऽभवत् ।
न च कर्तुमलं स किञ्चनोच्छ्वसितैरुष्णतरैर्निरीक्षितः ॥३९॥

जैसे किसी ताल के वृक्ष पर वज्र गिरने से उसका हृदय जल जाता है, वैसी ही स्थिति शुम्भ की हो गई थी। इस समय वह कुछ भी करने के लिए

निश्चय करने में समर्थ नहीं था, जिसे अपने गर्म श्वासों से वह सूचित कर रहा था ॥३९॥

अथ किञ्चिदुवाच गद्गदं प्ररुदन् भ्रातृशुचा जनान्तिके ।
निहतेऽतिबले निजानुजे किमिदानीं मम जीवितेन हा ॥४०॥

अतः वह (शुम्भ) अपने भाई की मृत्यु के शोक से रोता हुआ गद्गद् स्वर में लोगों के सम्मुख बोला—'अत्यन्त बलवान् अपने छोटे भाई के मारे जाने के बाद, हाय, मेरे जीवन की क्या आवश्यकता है ?' ॥४०॥

अनुजो यदि पुत्रवत्प्रियो निहतो राज्यसुखं न भुक्तवान् ।
किमु तेन सुखेन यातु तज्जगदेतद् गहनं वनं मम ॥४१॥

'पुत्र के समान प्यारा छोटा भाई यदि मारा गया, राज्य का सुख नहीं भोग सका, तो फिर उस (युद्ध) से मुझे कौन-सा सुख मिलेगा ? मेरे लिए तो सारा संसार ही घना जंगल हो रहा है ॥४१॥

अतुलं द्रविणं भवेद् गृहे सकलं सौख्यकरञ्च साधनम् ।
उपभोगकरो न कोपि चेद्विफलं तत्खलु कण्टकोपमम् ॥४२॥

यदि घर में अतुलनीय सम्पत्ति हो । सभी सुखों का साधन हो, परन्तु यदि उसका उपभोग करने वाला कोई नहीं रह जाए तो वे सभी चीजें काँटे बन जाती हैं' ॥४२॥

इति चिन्तितमानसं नृपं प्रवदन्तं समुपागमन् द्रुतम् ।
सचिवाः सुविचक्षणास्तदा सुतरां बोधयितुं समुत्सुकाः ॥४३॥

इस प्रकार की चिन्ता करते हुए तथा लोगों के समक्ष बोलते हुए शुम्भ के पास उसके अत्यन्त बुद्धिमान् मन्त्री लोग उसे भली-भाँति समझाने के लिए उत्सुक उसके निकट पहुँचे ॥४३॥

सचिवैरथ बोधितो भृशं समयार्हं नयकोविदैर्नयम् ।
अपहाय शुचं स किञ्चन समरायोद्यतवान् कथञ्चन ॥४४॥

नीतिकुशल मंत्रियों द्वारा समयानुसार नीति समझाये जाने पर कुछ शोक को हटा कर किसी प्रकार युद्ध के लिए वह तैयार हो गया ॥४४॥

अथ कोपि तदागतश्चरः सकलं वर्णितवान् प्रजागतम् ।
श्रवणेन च तद्गिरामसौ द्विगुणोत्साहसमन्वितोऽभवत् ॥४५॥

उसी समय एक गुप्तचर ने आ कर प्रजाओं की विचारगोष्ठी से ले कर उनके सारे सिद्धान्तों तक का यथावत् वर्णन कर दिया । उसकी बातें सुन कर उसका (शुम्भ का) उत्साह दूना हो गया ॥४५॥

विविधायुधसज्जितं शुभं जवनाश्वैयु्तमाशुगं रथम् ।
तुरगागमवेदिनान्वितं वरसूतेन समारुरोह सः ॥४६॥

इसके बाद वह (शुम्भ) अनेक प्रकार के हथियारों से सजे हुए, तेज छोड़े जुते हुए, शीघ्र दौड़नेवाले रथ पर, घोड़ों की गति को जाननेवाले सारथी के साथ, चढ़ा ॥४६॥

परिबब्रुरमुष्य सैनिकाः परितस्तं शितशस्त्रसज्जिताः ।
जय जीव महाधराधिप ! त्वरितं शत्रुवधं विधेहि च ॥४७॥

इसके बाद तेज हथियार धारण किए हुए उसके सैनिक लोग उसे यह कहते हुए घेर लिये—'जय महाराज की । महाराज जीवित रहें और शीघ्र ही शत्रु का वध करें' ॥४७॥

विदधद्वरसिंहगर्जनं हयहेषाध्वनिपूरितं महत् ।
करिणां निभृतैर्निरन्तरं रथसंघर्घररावराजितम् ॥४८॥

इसके बाद वीर लोगों के सिंहनाद, घोड़ों की हिनहिनाहट, हाथियों के चिग्घाड़ एवं रथों की घर्घराहट से लगातार विचित्र ध्वनि हो रही थी ॥४८॥

बहुवाद्यनिनादनादितं पदसञ्चाररजःप्रचारितम् ।
शितशस्त्रचमच्चरीकृतं गगनं कुर्वदतीव धूसरम् ॥४९॥

तरह-तरह के बाजों की आवाज से गूंजित, पैदल वीरों के चलने से उड़ती हुई धूल से धूसरित, तीखे हथियारों की चमक से चमत्कृत हो कर आकाश धूमिल हो गया था ॥४९॥

सुरलोकनिवासिभीषणं मुनिचेतांसि च कम्पयन्मुहुः ।
नरनागकुलञ्च तूलयत्प्रबलं शुम्भबलं चचाल तत् ॥५०॥

शुम्भ की सेना के चलने पर देवलोक में रहने वाले डर रहे थे, मुनियों का हृदय बार-बार कम्पायमान हो रहा था, मनुष्य, भूमिवासी और पातालवासी (नर-नाग) सब रुई के जैसे निस्सार बने हुए थे ॥५०॥

शुम्भोपि तद्बलमलं समरोद्यतं स्वं संवीक्ष्य गातपुलकोऽधिकसाहसोऽभूत् ।
तेनैव सार्धमरमम्वुदनादशब्दः पश्यन् पुरस्तदनु तीव्रतरं चचाल ॥५१॥

शुम्भ भी अपनी सेना को युद्ध के लिए उद्यत पीछे देखता हुआ आनन्द से रोमाञ्चित हो कर बादल गरजने के जैसा गरजता हुआ उस सेना के पीछे अति वेग से चला ॥५१॥

इति श्रीदेवीचरिते महाकाव्ये प्रजागोष्ठी शुम्भबलप्रस्थानं नाम द्वादशः सर्गः ।

'श्रीदेवीचरित महाकाव्य' में प्रजा की गोष्ठी तथा बली शुम्भ का युद्ध के लिए प्रस्थान नामक बारहवाँ सर्ग समाप्त ।

त्रयोदशः सर्गः

रणप्रदेशं समुपागतोसौ प्रजा ददर्शाथ नियुध्यमानाः।
प्रमोदपूरैर्विगतात्मचिन्तः स्वरेण धीरेण समाह्वयत्ताः ॥१॥

युद्ध स्थल पर पहुँच कर प्रजाओं को युद्ध करते हुए देख कर उस (शुम्भ) ने अपनी चिन्ताओं को दूर कर एवं प्रसन्न होकर गम्भीर स्वर से उन्हें पुकारा—॥१॥

अयि प्रिया वीरतमा प्रजा मे यदद्य मां तर्पयथात्मवृत्तैः।
न तत्प्रतीकारमवैमि कर्तुं नितान्ततुष्टोऽस्मि न वक्तुमीशे ॥२॥

'अयि वीरवर हमारी प्रिय प्रजाएँ! तुम लोग अपने चरित्र से मुझे तृप्त कर रही हो। मैं इतना प्रसन्न हूँ कि इसका बदला चुकाने में असमर्थ रहूँगा ॥२॥

नृपानुशिष्टा अपि नैव यान्ति प्रजाः प्रियप्राणविनाशकाले।
स्वयं समागत्य रणाजिरेऽस्मिन् स्वकौशलं दर्शयथाधुना यत् ॥३॥

'प्रजाएँ ऐसी भी होती हैं कि जब प्राणों की बाजी लगाने का समय आता है, राजा की आज्ञा पाने पर भी युद्ध क्षेत्र में नहीं जाती हैं और तुम लोग आज स्वयं पहुँच कर इस युद्ध में अपना कौशल दिखला रहे हो ॥३॥

निजैः पवित्रैरसुभिर्यथाद्य प्रवर्द्धयध्वे नितरां ममासून्।
तथानुजं मे रुधिरैररीणां विधाय तृप्तं कुरुथासुमन्तम् ॥४॥

'हे वीरो! तुम लोग अपने पवित्र प्राणों से मेरे प्राणों को पुष्ट कर रहे हो तथा मेरे छोटे भाई को शत्रुओं के रक्त से तृप्त करके सजीव बना रहे हो ॥४॥

समागतोहं सबलः सशस्त्रः सुरक्षणार्थं भवतामिदानीम्।
न शङ्कनीयं हि कथञ्चनैतद्रणाङ्गणे दुर्धरकालतोऽपि ॥५॥

'अभी मैं शस्त्रों से सुसज्जित सैनिकों के साथ आप लोगों की रक्षा के लिए पहुँच गया हूँ। अब तुम निश्चय जानो कि इस युद्ध क्षेत्र में सर्वशक्तिमान् काल भी आ जाय तो कोई बात नहीं ॥५॥

ततः प्रजानामवलोक्य शुम्भः क्षयं बलं स्वञ्च पलायमानम्।
जगाद देवीं गगनस्पृशेन स्वरेण संत्रासितदिग्गजेन ॥६॥

तब शुम्भ प्रजाओं का विनाश और अपनी सेना को भागते देख कर आकाशस्पर्शी स्वर से, जिससे दिग्गज भी दहल रहे थे, देवीजी से बोला—॥६॥

अनागसो दीनतरान् किमेतान् निहंसि निर्वीर्यमदानिदानीम् ।
त्वदस्त्रवर्षं प्रसमीक्षमाणो महीभृदेषोस्ति पुरस्तवाक्ष्णोः ॥७॥

'हे देवि ! अत्यन्त दीन, निरपराध, जिन्हें अपने बल का अभिमान भी नहीं है, ऐसे लोगों को इस समय क्यों मार रही हो ? तुम्हारे अस्त्र की वर्षा की प्रतीक्षा करने वाला राजा तुम्हारी आँखों के सामने है, उसे (मुझे) देखो ॥७॥

बलिष्ठताया यदि तेस्ति गर्वः पविप्रहाराक्षतचर्मदेहे ।
अनेकसंग्राममजितारिवर्गे प्रदर्शयास्मिन् भुवनैकवीरे ॥८॥

'यदि तुझे अत्यन्त बलवान् होने का गर्व है तो वज्र प्रहार से जिसके शरीर की चमड़ी भी नहीं छिल सकी है, जिसने अनेक बार युद्ध में शत्रुवर्ग को जीता है, सारे संसार में वैसा एक ही वीर है, इस (मुझ) पर गर्व का प्रदर्शन करो ॥८॥

स्वयं न चेत्कोपि रणं विधातुं क्षमस्तदान्यं खलु याचतेऽसौ ।
सहायतां त्वं यदि सर्वशक्तिः किमन्तशक्तीः समपेक्षसे तत् ॥९॥

'यदि कोई भी वीर युद्ध करने के लिए स्वयं समर्थ नहीं होता है तो वह दूसरों से सहायता माँगता है। तुम यदि स्वयं ही सम्पूर्ण शक्तिरूप हो तो फिर दूसरी शक्तियों की अपेक्षा क्यों करती हो ? ॥९॥

स्वभावतो मुग्धतमासि बाले ! न वेत्सि ताँश्छक्तियुतासि येषाम् ।
निबोध, ते शक्तियुताः सशस्त्राः पलायिता मत्पुरतः पुरैव ॥१०॥

'ऐ बाले ! स्वभाव से तुम भोली-भाली हो। नहीं समझती हो कि जिनकी शक्तियों को साथ ले कर युद्ध करने आई हो, वे कौन हैं ? तो समझो, वे पहले ही हथियार लिए हुए मेरे सामने से भाग चुके हैं ॥१०॥

स्वयं न ते चेत्समरे समर्थाः पुरो मदक्ष्णोः खलु वर्तितुं यत् ।
तदा करिष्यन्ति सहायतां किं स्वशक्तिभिस्ते परिचिन्तय त्वम् ॥११॥

'जो लोग पहले ही युद्ध में स्वयं मेरी आँखों के सामने ठहरने में समर्थ नहीं हो सके (भाग खड़े हुए), तो क्या वे फिर तुम्हारी सहायता करेंगे ? तुम अपनी शक्ति का ही भरोसा रखो ॥११॥

यदस्तु, नौचित्यमिदं तवेदं यदन्यसाहाय्यमपेक्षसे त्वम् ।
जगत्समस्तं खलु मन्यते यस्तृणं स वीराग्रसरत्वमेति ॥१२॥

'जो हो, यह तुम्हारे लिए उचित नहीं है कि तुम दूसरों की सहायता लो। जो समस्त संसार को तृणवत् (तुच्छ) समझे वही वीरशिरोमणि होता है ॥१२॥

बलाबलेशो यदि तेऽस्ति बाले ! विसृज्य शक्तीः सकला इदानीम् ।
समं नियुध्यस्व मया, स्वशक्तिं प्रदर्शय स्वामुत पश्य मेऽत्र ॥१३॥

'अतः हे बाले ! यदि तुम्हें बल का घमण्ड है तो इस समय सारी शक्तियों को छोड़ कर मेरे साथ युद्ध करो; अपनी शक्ति का प्रदर्शन करो अथवा मेरी शक्ति देखो' ॥१३॥

निशम्य तद्वाचमुवाच देवी प्रदर्शितः साधु निजाभिमानः ।
न काल एषोऽस्त्यभिधातुमग्रे स्वनन्त्विदानीं खलु शस्त्रसंघाः ॥१४॥

देवीजी उसकी बातें सुन कर बोलीं—'तुम अपना अभिमान भली-भाँति दिखला चुके । यह समय आगे बोलने का नहीं है । अब हथियारों का आकाशवेधी शब्द हो ॥१४॥

सुराः समर्था भुवनं विधातुं त एव शक्ताः प्रलयं च कर्तुम् ।
परन्तु ते सात्त्विकभावयुक्तास्तमोऽवलेपात्तु भिया प्रयाताः ॥१५॥

'देवता लोग संसार को बनाने में समर्थ हैं और वे ही विनाश भी कर सकते हैं । परन्तु वे लोग इस डर से युद्ध छोड़ कर भागे कि वैसा करने से उनमें जो सात्त्विक भाव है, वह कहीं तामसी भाव में न बदल जाय ॥१५॥

तमस्ततीनां स्वमहःप्रकाशैर्विनाशयित्री समुपागताहम् ।
तमःस्वभावा निहता असंख्यास्ततोऽवशिष्टोऽपि निहन्यतेऽद्य ॥१६॥

'आज मैं इसलिए आई हूँ कि अपने महान् तेज से अन्धकारसमूह को नष्ट कर दूँ । अन्धकार स्वरूप असंख्यों को मार चुकी हूँ और अब बचे हुए को भी नहीं छोड़ूँगी ॥१६॥

उदेति सौरी न विभा तु यावद्ग्रसत्यजस्रं भुवनं तमस्तत् ।
पुनस्तदुद्यत्करसंप्रहारैर्निरस्यते साधु निरावलम्बम् ॥१७॥

'जब तक सूर्य की प्रभा का उदय नहीं होता है तभी तक अंधकार संसार को कवलित किये रहता है । वही अन्धकार फिर उदित होते हुए सूर्य की किरणों (करों) की चपेट से निराधार हो कर भली-भाँति हटा दिया जाता है ॥१७॥

ब्रवीषि यद्वीरवरान्यशक्तिसमन्विताहं समुपस्थिताद्य ।
ममैव सर्वा वरशक्तयस्ता जगत्स्वरूपैव यतोऽहमस्मि ॥१८॥

'हे वीरवर ! यदि तुम कहते हो कि अन्य शक्तियों की सहायता ले कर आज आई हूँ, तो वे सब मेरी ही श्रेष्ठ शक्तियाँ हैं; मैं ही सारे संसार का रूप हूँ ॥१८॥

प्रकाशरूपा दिवसाः कदाचिन्निशाः कदाचिद्गहनान्धकाराः ।
भवन्ति, लोके नियमः कृतोयं मयैव तादृक्परिवर्ततेऽयम् ॥१९॥

'संसार में जो कभी दिन रूप प्रकाश और रात्रि रूप अन्धकार होता रहता है, वह मेरा ही किया हुआ नियम है और मेरे ही द्वारा वैसा परिवर्त्तन होता रहता है ॥१९॥

मयैव सर्वे वरशक्तिवन्तो भवन्ति लोकेषु समेषु शुम्भ !
यतोहमेवास्मि समस्तशक्तिस्वरूपिणी सर्वविधानदक्षा ॥२०॥

'हे शुम्भ ! संसार में जितने शक्तिमान हुए हैं, उन सबों में मेरी ही शक्ति रहती है क्योंकि मैं ही समस्त शक्तिरूपा हूँ और सारी वस्तुओं का निर्माण करने में समर्थ हूँ ॥२०॥

तवापि यास्ति प्रथिता पृथिव्यां न सापि मत्तो व्यतिरिच्यते वै ।
यदात्मनस्तामवगच्छसि त्वं कृपा मदीया त्वयि यावदस्ति ॥२१॥

'यह जो तुम में जगत्प्रसिद्ध शक्ति है वह भी मुझसे अलग नहीं है और जिसे तुम अपनी शक्ति समझते हो वह भी तभी तक तुम्हारी है जब तक तुम्हारे ऊपर मेरी कृपा है ॥२१॥

रविप्रभाभासितरत्नराशिर्यथा शिरोभिर्ध्रियते जनेन ।
तथैव मत्प्राप्तसुशक्तिशाली निगद्यते शक्तिमतां वरिष्ठा ॥२२॥

'जैसे लोगों द्वारा सिर पर (मुकुट आदि के रूप में) धारण किये जाने वाले रत्न सब सूर्य के प्रकाश पड़ने से चमकीला दीखते हैं, उसी प्रकार मेरे द्वारा सुन्दर शक्ति से सम्पन्न हो कर लोग शक्तिमान् कहलाते हैं ॥२२॥

निराश्रयो व्योमतले यदेतद्विभाति तारावलयं समन्तात् ।
मदल्पशक्त्या नहि खेलनं चेन्निराश्रयस्तिष्ठति कोन्तरिक्षे ॥२३॥

'आकाश-मण्डल में ये तारे सब जो निराधार रह कर चमकते हैं, यह मेरी थोड़ी शक्ति का खेल नहीं है; अन्तरिक्ष में निराधार कौन ठहर सकता है ?॥२३॥

क्षितौ निषिक्तो यदि बीजराशिः प्ररोहति क्वापि जलादियोगात् ।
निदानमस्याप्यहमेव नो चेदसौ विकारं प्रतिपद्यते किम् ? ॥२४॥

'पृथ्वी में छींटा हुआ बीज-समूह जो जल आदि के संयोग से कहीं अंकुरित होता है, इसका मूल कारण मैं ही हूँ, नहीं तो उसका रूपान्तर कैसे हो सकता है ? ॥२४॥

फलन्ति लोके तरवोपि नूनं मदंशसंसर्गमवाप्य काले ।
तथैव पुष्पन्ति लताश्च तत्र दलानि निर्यान्त्यपि पेलवानि ।।२५।।

'समय पर संसार में वृक्ष फलते हैं, यह निश्चय ही मेरे अंश के सम्पर्क पा कर ही । उसी प्रकार लताएँ खिलती हैं और उनमें कोमल दल निकलते हैं ।।२५।।

वदन्ति विज्ञानविवेकनिष्णा जगत्प्रकृत्याश्रितमेतदस्ति ।
विदन्ति ते नैव मदाकृतिं तां विवेकसीमानमुपागता न ।।२६।।

'विज्ञान के विद्वान् ऐसा कहते हैं कि यह संसार प्रकृति के अधीन है, परन्तु वे भी अपनी बुद्धि की सीमा पार कर यहाँ तक नहीं पहुँचते कि वह (मूल प्रकृति) भी मैं ही हूँ ।।२६।।

वदन्ति केचिद्विततप्रकाशं रविञ्च तेजोवलयं तथाऽन्ये ।
शरीरमेके खलु तत्र चक्रे यथानुभूतं कथयन्ति सर्वे ।।२७।।

'कुछ लोग सूर्य को एक फैला हुआ प्रकाश और अन्य लोग उसे एक प्रकाशपिण्ड कहते हैं और कुछ लोग उसे (प्रकाशपिण्ड को) शरीर में भी पाते हैं । जहाँ तक जिन्हें अनुभूति होती है, वैसा ही सब कहते हैं ।।२७।।

तवात्र शङ्का यदि वर्तते तद्विलोकयाद्यैव मदङ्गमेताः ।
विशन्ति सर्वा पुरतस्तवैव त्वदङ्गमस्त्राणि मयार्पितानि ।।२८।।

'यहाँ यदि तुम्हें शंका है तो देखो, ये सारी शक्तियाँ तुम्हारे सामने ही मेरे शरीर में प्रविष्ट होती हैं और मेरे चलाये हुए बाण तुम्हारे शरीर में प्रविष्ट होते हैं' ।।२८।।

निगद्य तस्यामिति संस्थितायां ततः समस्ता विविशुस्तदङ्गम् ।
समेषु पश्यत्सु च शक्तयस्ताः सविस्मयास्तेप्यभवँस्तदानीम् ।।२९।।

यह कह कर उनके (देवीजी के) चुप हो जाने पर सारी शक्तियाँ, सब के देखते ही देखते, उनके शरीर में प्रविष्ट हो गईं । उस समय सब आश्चर्यचकित थे ।।२९।।

यथा समुद्रं प्रतियन्ति नद्यो यथैव जीवा प्रविशन्त्यजञ्च ।
यथा च तत्त्वानि निजांशमध्ये तथा समस्ता विविशुस्तदङ्गम् ।।३०।।

जैसे समुद्र में नदियाँ प्रविष्ट हो जाती हैं, जीव ब्रह्म में मिल जाता है, सारे तत्त्व अपने-अपने अंश में प्रविष्ट हो जाते हैं, वैसी ही सब शक्तियाँ देवीजी के अंग में प्रविष्ट हो गईं ।।३०।।

ततो जगादैकतमा मृडानी विलोक्य शुम्भं चकितं नितान्तम् ।
किमीदृशस्तिष्ठसि रुद्धचेष्टः प्रयाहि, शस्त्रं यदि वा गृहाण ॥३१॥

बाद केवल एक मात्र गौरी अत्यन्त चकित शुम्भ से बोली—'आश्चर्यचकित हो कर इस प्रकार क्यों खड़े हो ? जाओ या शस्त्र धारण करो' ॥३१॥

उवाच शुम्भो न निरुद्धचेष्टस्तवौजसा वा महसास्मि गौरि !
विलोक्य मायामधुना त्वदीयां विधातुमेनां परिचिन्तयामि ॥३२॥

तब शुम्भ बोला—'हे गौरी ! तुम्हारे बल या तेज से मैं चकित नहीं हूँ, बल्कि तुम्हारी माया को देख कर मैं भी इस समय इसे अपनाने (प्रकट करने) को सोच रहा हूँ ॥३२॥

समास्त्वदङ्गं विविशुर्यदेता विनिःसृता पश्यतु मच्छरीरात् ।
विलोचने मीलयतीति तस्मिन् विलोकिता काश्चन दिव्यरूपाः ॥३३॥

'ये सभी शक्तियाँ जो तुम्हारे शरीर में प्रविष्ट हुई हैं तो देखो, अभी मेरे शरीर से निकलती हैं ।' इस प्रकार उसे आँखें बन्द करते ही दिव्यरूप कई शक्तियाँ दीख पड़ीं ॥३३॥

पुनर्निमेषं परिहाय यावद्विलोकयत्येष पुरोऽथ शुम्भः ।
ददर्श सर्वा अपि ता विशन्तीः सविस्मयं श्रीजगदम्बिकाङ्गम् ॥३४॥

फिर पलक मारते ही शुम्भ सामने आश्चर्य के साथ देखता है कि सभी शक्तियाँ श्री जगदम्बा महारानी के शरीर में प्रवेश कर रही हैं ॥३४॥

मदग्रतः किं विवृणोषि मायां मयैव पूर्वं प्रकटीकृतास्ताः ।
उताहमेवास्मि च तत्स्वरूपा मदाकृतिर्वा खलु सैव सर्वा ॥३५॥

जगदम्बा बोली—'मेरे सामने तुम माया क्या प्रकट करते हो ? सभी मायाओं को तो मैंने पहले प्रकट की थी अथवा मैं ही माया का स्वरूप हूँ, या वे सभी मेरा ही रूप हैं ॥३५॥

गुरोः समीपे गुरुताप्रकाशो नटान्तिके वा नटकृत्यदर्शः ।
कथं क्षमस्तत्किमिवावलोक्य पुरो ममैनां प्रकटीकरोषि ॥३६॥

'गुरु के सामने गुरुता प्रकाशित करना या नट के सामने नटविद्या दिखलाना कैसे उचित हो सकता है ? अतः तुम क्या देख कर मेरे सामने माया दिखलाने चले थे ? ॥३६॥

इति प्रपञ्चं परिहाय शुम्भ ! मदायुधं त्वद्रुधिरे सतृष्णम् ।
सुसज्जितस्तर्पयितुं भवाद्य मुधा विलम्बं कुरुषे सुयोगे ॥३७॥

'इसलिए हे शुम्भ! प्रपञ्च को हटा कर तुम्हारे रक्त के प्यासे मेरे सुसज्जित अस्त्र को तृप्त करने के लिए तुम तैयार हो जाओ। ऐसे सुयोग के समय विलम्ब करना व्यर्थ है' ॥३७॥

निगद्य चण्डीति निशातमस्त्रमचालयच्छुंभललाटदेशे।
कथञ्चनैतत्कृतरक्षणोसावसिं समाकृष्य ययौ तदग्रे ॥३८॥

यह कह कर चण्डी ने तीखे अस्त्र को शुम्भ के ललाट पर चला दिया। वह किसी प्रकार इस अस्त्र से अपने को बचा कर तलवार खींच कर देवीजी के सामने पहुँचा ॥३८॥

न चालयामास निजासिमस्या स्थितो जडीभूत इवाग्रतस्तु।
विहस्य देवी च यदा प्रयातुं दिदेश, तस्मात्स तदा चचाल ॥३९॥

अपनी तलवार चला नहीं पाया, वल्कि देवीजी के सामने जडीभूत की तरह खड़ा रह गया और देवीजी ने जब हँस कर जाने के लिए आदेश दिया तब वह वहाँ से चला ॥३९॥

अथाक्षिपद्बाणममुत्र शुम्भः स चापि तद्देहमनाप्य मध्ये।
पपात तेनातितरां प्रचण्डो दधार चापे शरमेकमन्यम् ॥४०॥

वाद शुम्भ ने उन पर वाण फेंका जो उनके शरीर में नहीं लग कर बीच में ही गिर गया। इससे अति क्रुद्ध हो कर उसने एक दूसरा वाण धनुष पर रखा ॥४०॥

विधाय तं वह्निमयं च मन्त्रैरचालयत्तामभिलक्ष्यभूताम्।
दिशः प्रभाभिर्ज्वलयन् यदैव चचाल मध्ये शमितोम्बुवर्षैः ॥४१॥

उस वाण को अग्नि के मन्त्रों से अभिमन्त्रित करके उसने देवीजी को लक्ष्य बना कर चलाया जो अपनी ज्वाला की लपट से सभी दिशाओं को प्रज्वलित करता हुआ ज्यों ही चला कि बीच में ही उसे शान्त करने के लिए जोरों से पानी वरसने लगा ॥४१॥

तडित्प्रकाशोतिभयङ्करोसौ यथाम्बुदोऽवर्द्धत भीमशब्दः।
वियत्समावृत्य धरां तमोभिरपूरयद् वृष्टिसमाकुलान्तः ॥४२॥

वह वादल जोरों के गर्जन के साथ फैल कर इतना घना और भयंकर हो गया कि केवल विजली कौंधने से ही कभी-कभी प्रकाश मिलता था। वह तमाम फैल कर आकाश को ढक कर पृथ्वी पर अंधकार फैला कर जोरों की वर्षा करने लगा ॥४२॥

निरीक्ष्य शुम्भोपि तमब्दराशिमनावृतां तेन च चण्डिकां ताम् ।
प्रकम्पनात्मेषुभिरेव तूर्णं न्यवारयत्सर्वघनं प्रचण्डम् ॥४३॥

शुम्भ ने उस घटाटोप बादल के प्रभाव से जगदम्बिका को अलग देख शीघ्र ही वायव्यास्त्रों के द्वारा सारे बादलों को तितर-बितर कर दिया ॥४३॥

प्रचण्डवेगः पवनः समन्ताद्द्रुमान् गृहाँश्चापि निपातयन् सः ।
रजोभिराशाः परिपूरयन् सन्नुपद्रुतां संविदधे धरित्रीम् ॥४४॥

उस प्रचण्डवेग वायु ने समस्त वृक्षों, गृहों आदि को ध्वस्त करता हुआ, सभी दिशाओं को धूल से भरता हुआ, सारी पृथ्वी को तहस-नहस कर डाला ॥४४॥

उपर्यधस्तात्पुरतश्च पश्चाद्भुजङ्गबाणैर्जगदम्बिकाऽथो ।
प्रकम्पनं दैत्यवरप्रणीतं निवारयामास जगद्धिताय ॥४५॥

तब जगदम्बिका ने संसार के कल्याण के लिए शुम्भ द्वारा चलाये हुए तीव्र वायु रूप अस्त्र को ऊपर-नीचे, आगे-पीछे सब ओर से नागास्त्र के द्वारा शान्त कर दिया ॥४५॥

निजाङ्गके भीषणभीषणं तं समापतन्तं भुजगास्त्रसङ्घम् ।
सुपर्णमुत्पाद्य मनुप्रयोगात्प्रयापयामास नितान्तभीतम् ॥४६॥

अपने शरीर पर आते हुए अत्यन्त भयंकर सर्पास्त्र को मन्त्र-प्रयोग से गरुड़ास्त्र उत्पन्न कर अत्यन्त डरे हुए नागास्त्रों को दूर हटा दिया ॥४६॥

ततस्तु गौरी गरुडं स्वशक्त्या निषिध्य, दैत्येन्द्रगलप्रदेशम् ।
विधाय लक्ष्यं, शशिखण्डरूपं शरञ्च सा प्राक्षिपदुग्ररोषात् ॥४७॥

गौरी महारानी ने अपनी शक्ति से गरुड़ास्त्र को हटा कर दैत्यराज शुम्भ के गला को लक्ष्य बना कर बड़े क्रोध से अर्द्धचन्द्राकार बाण फेंका ॥४७॥

स तूर्णमुत्प्लुत्य ततोऽसुरेशो निराश्रयः सन्ददृशेऽन्तरिक्षे ।
शरस्तु कुत्राप्यनवाप्य लक्ष्यं जगाम वेगप्रहितः परोक्षम् ॥४८॥

तब शुम्भ झट उछल कर निराधार आकाश में दीख पड़ा और अति वेग से चला हुआ बाण कहीं पर लक्ष्य नहीं पा कर लापता हो गया ॥४८॥

जगन्नियन्त्री स्थितमम्बरे तं निरीक्ष्य वेगादथ तत्प्रपेदे ।
तलप्रहारेण च तं ततोपि न्यपातयन्निम्नमुखं धरायाम् ॥४९॥

जगन्नियन्त्री निराधार आकाश में स्थित उसे देख कर वेग से वहाँ पहुँचीं

और उन्होंने उसे एक तमाचा लगाया जिससे वह वहाँ से चल कर जमीन पर औंधे मुँह आ गिरा ॥४९॥

पुनः स तिष्ठेति वदन् विहायो रयेण गत्वा जगदम्बिकाग्रे ।
प्रहर्तुमाकृष्य कृपाणमुग्रमचालयत्सापि च तं रुरोध ॥५०॥

'ठहरो' ऐसा कहता हुआ उस शुम्भ ने आकाश में जगदम्बिका के निकट जा कर एक भयंकर तलवार खींच कर उन पर चलाया और उन्होंने भी उस तलवार को रोक दिया ॥५०॥

कृपाणपाणेरहिपाशतः सा करं समावेष्ट्य कचं तदीयम् ।
विकृष्य भूमाववतारयत्तं यदैव हन्तुं च समुद्यताऽभूत ॥५१॥

वह जगदम्बा हाथ में तलवार लिए हुए शुम्भ के हाथ को पाशास्त्र से बाँध कर, उसके केश को खींच कर, उसे जमीन पर ला कर, उसे मारने के लिए उद्यत हुईं ॥५१॥

तदा स पाशं विनिकृत्य दन्तैः करं सखड्गं निचकर्ष तूर्णम् ।
अथाम्बिकायाः कटिमात्मपाणिद्वयेन संवेष्टितवान् दृढेन ॥५२॥

उस (शुम्भ) ने उस पाशास्त्र को दाँतों से काट कर सखड्ग हाथ को शीघ्र खींचा। बाद जगदम्बा की कमर को दोनों हाथों से दृढ़ता पूर्वक मोड़ कर उन्हें गिराना चाहा ॥५२॥

कृतप्रयत्नोपि न तां यदासावपातयत्सा तु तदीयपार्श्वम् ।
करद्वयेनाति निपीड्य पादावुदक्षिपत्कौ निपपात दैत्यः ॥५३॥

बहुत प्रयत्न करने पर भी जब वह उन्हें नहीं गिरा सका, तब उस जगदम्बा ने अपने दोनों हाथों से उसके पार्श्व को जोरों से दबा कर उस दैत्य के पैरों को पकड़ कर ऊपर फेंक दिया जिससे वह जमीन पर गिर पड़ा ॥५३॥

पुनः खमुत्प्लुत्य स चण्डिकायां बृहच्छिलाखण्डमपातयच्च ।
तदाश्वनादृत्य जगन्नियन्त्री निराश्रये खेपि तमाससाद ॥५४॥

इसके बाद उस दैत्य ने आकाश में उछल कर चण्डिका के ऊपर पत्थर का एक बड़ा चट्टान फेंका। जगदम्बा ने उस चट्टान की कोई परवाह नहीं कर निराधार आकाश में ही उसे पकड़ लिया ॥५४॥

निराश्रये खेपि चिरं स्वशक्तीरदर्शयेतामथ शक्तिशुम्भौ ।
अपेक्ष्यते शक्तिमताश्रयो नो स आश्रयस्तस्य यमभ्युपैति ॥५५॥

शक्ति और शुम्भ दोनों निराधार आकाश में बहुत देर तक अपनी-अपनी शक्ति का प्रदर्शन करते रहे। शक्तिमान् को ठहरने के लिए किसी आधार

की जरूरत नहीं होती; वह जहाँ पर ठहर जाता है, वहीं उसका आधार बन जाता है ।।५५।।

निरीक्ष्य तद्युद्धमतीव भीतान् सुरान् समालक्ष्य तदुत्सवाय ।
कचं समादाय सुरारिकण्ठं चकर्त शूलेन शितेन देवी ।।५६।।

जब देवीजी ने यह देखा कि इस युद्ध से देवता लोग बहुत भयभीत हो रहे हैं, तब उन्हें उत्सव मनाने के लिए उन्होंने दैत्यराज के केश को पकड़ कर तीखे शूल से शुम्भ के गले को काट दिया ।।५६।।

अथ जय जय देवीत्युत्थितो ध्वान उच्चैरमरवरविमुक्ता पुष्पवृष्टिः पपात ।
दनुजकुलमरं तन्निःसहायं विहायावनितलमपयातं सर्वतो भूतलान्तः ।।५७।।

"देवीजी की जय" की ध्वनि जोरों से गूंज उठी और विमुक्त देवताओं ने फूलों की वर्षा की। शीघ्र ही दानववंश अपने को निःसहाय जान कर समस्त भूमि को छोड़ कर भूमि के तल(पाताल) में चला गया ।।५७।।

प्रमुदितानमरान् कृतसंस्तवान् मुनिगणानुपदेवगणाँस्तथा ।
अमरवारवधूः कृतनर्तना प्रियवचोभिरतोषयदम्बिकाम् ।।५८।।

प्रसन्न हो कर देव, उपदेव तथा मुनि लोग स्तुति कर रहे थे और अप्सराएँ नाच रही थीं। देवीजी ने अपने वचनों से उन्हें और भी प्रसन्न कर दिया ।।५८।।

निहतकण्टकहृष्टतमा अहो कुरुथ सौख्यमयं निजजीवनम् ।
यदि पुनर्निपतिष्यति वो भयं तदुपयास्यति तूर्णतरं क्षयम् ।।५९।।

'हे उपस्थित लोगो ! इस कंटक के निर्मूल होने से अत्यन्त प्रसन्न हो अपने-अपने जीवन को सुखमय बनावें। यदि फिर कभी आप लोगों को भय उपस्थित होगा, तो वह शीघ्र ही नष्ट होगा ।।५९।।

भुवि विधास्यति योपि ममार्चनं किमपि सात्त्विकराजसतामसम् ।
स्तवनमेव विधास्यति योपि वा ध्रुवमसावखिलं सुखमाप्स्यते ।।६०।।

'पृथ्वी पर जो कोई सात्त्विक, राजस तथा तामस कुछ भी मेरी पूजा करेगा या स्तुति ही करेगा, वह निश्चय ही सब सुख प्राप्त करेगा ।।६०।।

इति निगद्य जगत्परिपालिकाऽगमदसौ स्ववचनात्मयदृच्छया ।
ययुरथो सगणा अपि निर्वृताः सुरवरा मुनयश्च निजाश्रमम् ।।६१।।

शीघ्र ही वह जगदम्बिका यह कह कर अपनी इच्छानुसार कहीं चली गईं। श्रेष्ठ देवता लोग अपने-अपने गणों के साथ, तथा मुनि लोग, भी अपने-अपने स्थान चले गये ।।६१।।

तदा बभूव सर्वतो महोत्सवा जगत्त्रये
न केपि दुःखभागिनः सुनिर्वृताः समा जनाः।
ववुश्च वायवः सुखाः सदाफलाश्च शाखिनो
ववर्ष वारिदोऽनुकालमीतयः पलायिताः ॥६२॥

उस समय तीनों लोकों में महान् उत्सव होने लगा, कोई भी दुःखी नहीं रह गया। सब लोग सुख-शान्ति से समय बिताने लगे। सुखदायक हवाएँ चलने लगीं, वृक्ष सब समय पर फूल देने लगे, समय पर वर्षा होने लगी और राज्य सम्बन्धी सभी उपद्रव समाप्त हो गये ॥६२॥

इति श्रीदेवीचरिते महाकाव्ये शुम्भ वधो नाम त्रयोदशः सर्गः।

'श्रीदेवीचरित महाकाव्य' में शुम्भ-वध नामक तेरहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

चतुर्दशः सर्गः

अथापरौ कावपि लोकदूषकौ निशुम्भशुम्भौ धृतविग्रहौ ग्रहौ ।
बभूवतुर्यद्बलजातकम्पनाः प्रजाः बभूवुर्विकलाः समन्ततः ।।१।।

इसके बाद संसार को पीड़ित करने वाले शुम्भ और निशुम्भ नाम के ही दो अन्य दैत्य, दो नये ग्रहों के रूप में, प्रकट हुए । इनके बल से प्रजा सब ओर से कम्पित हो कर व्याकुल हो उठी ।।१।।

दिनानि मासाः कति हायनान्यपि व्यतीयुरेतद्विहितैरुपद्रवैः ।
प्रवर्द्धमाना न शमं यदा गता उपद्रवास्तत्प्रकृतिर्विकारभाक् ।।२।।

इन्हें उपद्रव करते अनेक दिन, महीने और वर्ष बीत गये, किन्तु इनका उपद्रव बढ़ता ही गया । जब ये शान्त नहीं हुए तब इनकी प्रजा इनके विरुद्ध हो गई ।।२।।

विकारमेति प्रकृतिर्यदा क्षितावनर्थधारा वहति द्रुतं तदा ।
प्रयाति सा तत्र च यत्स्वकारणं यतो हि कार्यं श्रयते निदानकम् ।।३।।

जब प्रजा विरुद्ध हो जाती है, तब शीघ्र ही पृथ्वी पर अनर्थ की धारा वेग से बहने लगती है, और वह वहाँ पर पहुँचती है जहाँ उसका कारण रहता है; क्योंकि समवायी कारण के गुण कार्य में निहित रहते हैं ।।३।।

समा विकाराः प्रकृतिं समाश्रिता प्रयान्ति मूलप्रकृतिं स्वकालतः ।
तदेति विश्वं प्रकृतिं प्रपद्यत उपद्रवाः शान्तिमुपाव्रजन्ति च ।।४।।

जब सभी विकृतियाँ समयानुसार मूल प्रकृति में समाविष्ट हो जाती हैं, तभी यह संसार स्वस्थ होता है और सारे उपद्रव भी शान्त हो जाते हैं ।।४।।

स्वयं हि मूलप्रकृतिर्जगद्द्रुहां विनाशकर्त्री जगदम्बिकैव सा ।
निरीक्षमाणा विकृतिं च कस्यचित्समाश्रयेदात्मनि किन्न तं जनम् ।।५।।

जगत् के द्रोहियों को नष्ट करने वाली मूलप्रकृतिरूप वह जगज्जननी, जब संसार में किसी की आत्मा में विकृति (उपद्रव) देखती हैं, तो क्या उस व्यक्ति में स्वयं प्रविष्ट नहीं हो जातीं ? ।।५।।

बभूव कंसाख्यमहीभृदेकदा स्वसा तदीया किल देवकीति च ।
यदीयगर्भोद्भवबालकादसौ निपातनीयोऽतिभयङ्करः खलः ।।६।।

एक समय कंस नाम का राजा हुआ था, जिसकी बहन थी देवकी । उसी के गर्भ से उत्पन्न होने वाले बालक से उस महा भयंकर दुष्ट का विनाश निश्चित था ।।६।।

अतः स्वसारं च पतिं तदीयकमतिष्ठिपद्दण्डगृहे बलादसौ ।
बभूव तत्रैव तदीयगर्भतो जगन्नियन्ता भगवान् स्वयं हरिः ।।७।।

इसलिए कंस ने उस देवकी और उसके पति को बलात् जेल में रख दिया। वहीं पर उसके गर्भ से जगन्नियन्ता भगवान् विष्णु स्वयं प्रकट हुए ।।७।।

विलोक्य मातापितरौ सविह्वलावुवाच मामर्पय नन्दसद्मनि ।
भवत्सुमित्रं खलु योस्ति गोकुले तदीयकन्यामिह चानय द्रुतम् ।।८।।

अवतरित भगवान् माता-पिता को अत्यन्त व्याकुल देख कर बोले कि मुझे नन्द जी के घर में रख दीजिए, चूँकि वे आप लोगों के अच्छे मित्र हैं। साथ ही उनकी कन्या को शीघ्र ही यहाँ ले आइए ।।८।।

जगन्नियन्त्री जगदम्बिका यदा यदाऽनुकम्पां विदधाति यत्र वै ।
मतिस्तदीया विमला प्रजायते सहायकस्तस्य च कोपि निश्चितः ।।९।।

जगत् की संचालिका जगदम्बिका जब किसी पर दया करती हैं, तो निश्चय ही उसकी बुद्धि निर्मल हो जाती है और कोई-न-कोई उसका सहायक हो जाता है ।।९।।

हरेर्निदेशादथ तत्पिता द्रुतं चकार तत्कर्म सुदुष्करं नृणाम् ।
खलः स कंसोप्यवगत्य तत्सुतां शिलातले पोथयितुं समाददे ।।१०।।

भगवान् की आज्ञा से उनके पिता ने शीघ्र ही उस असाध्य काम को किया। इधर दुष्ट कंस भी देवकी के गर्भ से उत्पन्न पुत्री जान कर चट्टान पर पटकने के लिए उसे उठा लिया ।।१०।।

यदैव तां पातयति स्म तत्क्षणात्तदीयहस्ताच्छुटिता दिवंगता ।
न सा तदा तत्क्षणजातबालिका विचित्ररूपा खलु कापि कालिका ।।११।।

जैसे ही उसे पटकने लगा कि उसके हाथ से छूट कर वह तुरन्त ही आकाश में चली गई। आकाश में वह तुरन्त की पैदा हुई बालिका नहीं, बल्कि विचित्र रूप की कालिका बन गयी ।।११।।

भुजैः सशस्त्रैर्वसुसंख्यकैर्युता नृमुण्डमालामुरसा च बिभ्रती ।
तडित्प्रभा भीमरवाऽट्टहासिनी जगाद कंसं तव घातकोऽपरः ।।१२।।

सशस्त्र आठ भुजाओं से युक्त, वक्षस्थल पर नरमुण्डमाल धारण की हुई, विद्युत् के सदृश चमकती हुई, भयंकर शब्द करती हुई तथा जोरों से हँसती हुई, वह बोली—'तुम्हें मारने वाला कोई दूसरा है ।।१२।।

निशम्य तद्वाक्यमथो सविस्मयं नभोभि कंसे परिपश्यति स्थिते ।
महारयेणाब्दघटां विघट्टयन्त्यसौ ततः क्वापि चचाल चण्डिका ॥१३॥

कंस आश्चर्यचकित हो कर आकाश की ओर ताकता रह गया । उधर वह देवी बड़े वेग से आकाश में छाए हुए बादलों को प्रकाशमय बनाती हुई वहाँ से कहीं चली गई ॥१३॥

गुरोर्निदेशेन नते शिलोच्चये तपो यथा कुर्वति काननाश्रये ।
विधाय विध्याख्यमहागिरौ कृपां गता निवासाय जगन्निवासिनी॥१४॥

गुरु की आज्ञा से वह जगन्निवासिनी देवी उस विन्ध्य नामक महान् पर्वत पर कृपा करके निवास करने चली गई जिसके चट्टान ऐसे झुके थे जो लगता था कि वह (पर्वत) सिर झुका कर तपोवन में तपस्या कर रहा हो ॥१४॥

असौ गिरिश्चिन्तयति स्म सर्वदा हिमालयो मत्किमु गौरवान्वितः ।
विचित्रशृङ्गैर्बहुभिर्यदस्त्यसौ समन्वितः किन्न तथाहमस्म्यपि ॥१५॥

वह पर्वत बराबर यह सोचता रहता था कि हिमालय मुझसे किस बात में बड़ा है ? यदि वह अनेक विचित्र शिखरों से युक्त हैं, तो क्या मैं भी उसी प्रकार का नहीं हूँ ? ॥१५॥

द्रुमैस्तथा पुष्पफलानतैर्यदि लतालयैर्मत्तमधुव्रतालिभिः ।
प्रमोदमानान् विदधात्यसौ जनान् मदाश्रितास्तत्सुखवञ्चिता न हि ॥१६॥

यदि वह (पर्वत) फूल-फलों से लदे हुए वृक्षों से युक्त, कुञ्जों से युक्त तथा मतवाले मधुपों के झुण्डों से गुञ्जित होने के कारण उस पर रहने वालों को आनन्दित रखता है, तो मेरी शरण में रहने वाले भी उन सुखों से वंचित नहीं हैं ॥१६॥

तदीयशृङ्गे यदि यक्षकिन्नरा वराङ्गनाभिर्विहरन्ति सन्ततम् ।
न तत्समा मय्यपि दिव्यमानवा सुखं लभन्ते वनितासमन्विताः ॥१७॥

यदि उसके शिखर पर यक्ष और किन्नर श्रेष्ठ स्त्रियों के साथ बराबर विहार करते हैं, तो क्या उन्हीं के समान श्रेष्ठ मनुष्य स्त्रियों के साथ मेरे ऊपर सुख नहीं पाते हैं ? ॥१७॥

स गह्वरे सद्मनिभैः सुखप्रदैर्निजाश्रयाँश्चेत्कुरुते सुरोपमान् ।
तथैव तैर्मामधिवासिनो जनाः स्मरन्ति किं स्वर्गसुखं कदाचन ॥१८॥

वह हिमालय यदि सुखदायक कमरे के समान गुफाओं से देव-निवास के समान आश्रम बनाता है तो उसी प्रकार मुझ पर निवास करने वाले उन साधनों को पा कर क्या कभी स्वर्ग-सुख का स्मरण भी करते हैं ? ॥१८॥

महर्षयश्चेत्तमुपाश्रिताः सदा विधाय चेतो विषयेष्वसङ्गतम् ।
विहाय शारीरिकचेतनामजं विलोकयन्ते च मयि स्थिता अपि ॥१९॥

यदि उस पर निवास करने वाले महर्षि लोग चित्त को विषयों से निवृत्त करके शारीरिक चेतना को भूल कर सदा परब्रह्म को देखते हैं, तो मुझ पर निवास करने वाले भी वैसे बहुत हैं ॥१९॥

तदुद्भवा देवसरित्समुत्सुका तदङ्गशोभां तनुते परां यदि ।
ममापि सा क्षालयते पदान्यलं श्रियञ्च काञ्चिद्विदधाति सन्ततम् ॥२०॥

उस हिमालय से उत्पन्न नदी (गंगा) यदि उत्सुक हो कर उसके अंग की शोभा बढ़ाती है, तो वही गंगा मेरे पैरों को धोती है और सदा सुन्दर और विचित्र शोभा बनाती है ॥२०॥

तदन्यभागाद्यमुना विनिःसृता विवर्धयन्ती श्रियमेतदीयिकाम् ।
प्रयागतीर्थे मिलिता च गङ्गया ममापि पादांश्छ्रयतेऽघहारिणी ॥२१॥

उसके दूसरे भाग से निकली हुई यमुना यदि इस हिमालय की शोभा को बढ़ाती है और प्रयाग तीर्थ में गंगा से मिली हुई यमुना पाप को नष्ट करने वाली है, तो वह मेरे ही पैरों के कारण ॥२१॥

ततोऽपराश्चापि विनिःसृता यदि सरिद्वरा लोकहिताभिलाषुकाः ।
इतोप्यनेकाश्च विनिःसरन्त्यलं शिवामृतापः सुखदायिका भुवि ॥२२॥

यदि उस (हिमालय) से इसके अतिरिक्त भी नदियाँ संसार के हित की इच्छा से निकली हैं, तो इससे भी निकली हुई कल्याणकारी अमृत के समान जल से भरी हुई सुखदायक अनेक नदियाँ पृथ्वी पर बह रही हैं ॥२२॥

समानयोर्नावपि तत्र भूधरे विशिष्ट एकः सुगुणोपि वर्तते ।
शिवः सदाध्यानपरोधितिष्ठति सुरास्तथायान्ति तदीयदर्शनात् ॥२३॥

उस पहाड़ में और मुझमें समानता है किन्तु एक ही सुन्दर गुण उसमें विशेष है कि शिवजी उस पर ध्यान लगाये बैठे हैं, और उनके दर्शन के लिए देवता लोग बराबर वहाँ आते रहते हैं ॥२३॥

स चापि यद्ध्याननिमग्नमानसो जहाति नो तच्छिखरं मनोरमम् ।
निदानमेतस्यशिवासमुद्भवस्ततोऽभवत्तद्वसतिश्च सर्वदा ॥२४॥

वह शिवजी भी जिनके ध्यान में मग्न हो कर उसके सुन्दर शिखर को नहीं छोड़ते हैं, इसका कारण यह है कि शिव का प्रादुर्भाव हिमालय से हुआ है और उसके बाद उनका निवास भी वहीं रहा है ॥२४॥

शिवो न तत्स्थानमुपेक्षते क्षणं शिवा न यत्संत्यजति क्षणादपि ।
तयोरभेदः शिवयोर्हि वर्तते शिवस्वरूपं च तदास्पदं सदा ॥२५॥

जिस कारण से शिव उस स्थान को नहीं छोड़ते उसी कारण शिवा क्षण-मात्र के लिए भी उसे नहीं छोड़ती हैं, क्योंकि उन दोनों (अर्थात् शिवा और शिव) में अभिन्नता है। जहाँ भी रहेंगे, दोनों रहेंगे। उनका जो स्थान है वह बराबर शिवजी का स्वरूप है ॥२५॥

विधाय सा चेत्सुदयां ममोपरि स्थितिं विदध्यात्कुहचिन्ममांशके ।
तदा भवेयं हि शिवालयोप्यहमितीव विन्ध्यो विदधे सुचिन्तनम् ॥२६॥

यदि वह शिवा मेरे ऊपर अत्यन्त दया करके मेरे किसी भाग में अपना निवास बना लें, तो मैं भी शिवा का स्थान बन कर शिव का निवास बन जाऊँ। यही शुभ कामना विन्ध्यपर्वत बराबर करता था ॥२६॥

जगज्जनन्याः सकलेषु सर्वदा दया भवत्येव निजाश्रितेष्वलम् ।
अतः समायात् स्थितये सुगह्वरं तदीयकं नन्दगृहोद्भवा शिवा ॥२७॥

अपने सभी आश्रितों पर जगज्जननी की बराबर दया रहती है। अतः नन्दजी के घर में उत्पन्न होने वाली शिवा उस विन्ध्य पर्वत की गुफा में निवास करने के लिए पहुँचीं ॥२७॥

यदा प्रभृत्येव समाययौ शिवा स सानुमान् सर्वसमृद्धिसंयुतः ।
सुरेन्द्रयोगीन्द्रनिवाससंश्रयो बभूव भूभृत्सु नितान्तपावनः ॥२८॥

जब से विन्ध्य पर्वत पर श्री शिवाजी का वास हुआ तब से वह पर्वत सभी प्रकार से श्रीसम्पन्न हो गया। बड़े-बड़े देवताओं एवं योगियों का वह निवास-स्थान बन गया तथा और भी अधिक पावन हो गया ॥२८॥

यदीयभागाः सुसमायताः शुभा नदद्विहङ्गैस्तरुभिर्विभूषिताः ।
स्वनद्द्विरेफालिनिकुञ्जपुञ्जिताः समाह्वयन्तिस्म सुरान् नभःसदान् ॥२९

उस विन्ध्य पर्वत का समतल एवं विस्तृत, वृक्षों की पंक्तियों से सुशोभित, पक्षीगण के गुंजार से गुंजित कुन्जों से परिपूर्ण, ऊपरी भू-भाग उच्च आकाश में अवस्थित देवों को सदा पुकारता था ॥२९॥

क्वचित्क्वचिन्निर्मलवारिपूरिता अनेकवर्णाब्जरजोभिरञ्जिताः ।
जलाश्रयैः पक्षिवरैर्विराजिताः कति ह्रदास्तत्सुषमामपूरयन् ॥३०॥

कहीं-कहीं पर ऐसे तालाब थे जो निर्मल जल से पूरित हो अनेक प्रकार के कमलों के पराग से रञ्जित थे, जिनमें जल-पक्षियों का विहार तथा कलरव होता रहता था—ये सब मिल कर इस पर्वत की सुन्दरता को पूर्ण कर देते थे ॥३०॥

प्रसूनसौरभ्यमदप्रमोदितः पवित्रगङ्गाजलशीतशीकरः ।
घनेषु कुञ्जेषु परिस्खलद्‌गतिः समीरणः सञ्चरति स्म सर्वतः ।।३१।।

फूलों की सुगन्धि के मद से माते एवं पवित्र गंगाजल के कणों से युक्त होने के कारण शीतल पवन घने कुञ्जों में रुक-रुक कर सदा चलता रहता था ।।३१।।

तदीयपार्श्वप्रतिवेशिनो जना अपूर्वसौरभ्यसमृद्धितर्पिता ।
प्रमार्गयन्तः परितः समाव्रजन् व्यलोकयँस्तस्य गिरेर्वनश्रियम् ।।३२।।

उस पर्वत के निकटवर्ती (पड़ोसी) लोगों ने अपूर्व सुगन्धि से तृप्त हो कर तमाम ढूंढ़ते हुए उस पर्वत के उस भाग की शोभा को देखा जहां पर तरह-तरह के फूल खिले हुए थे ।।३२।।

तदीयसम्पत्प्रथिता समन्ततो निशुम्भशुम्भश्रुतिमप्यथास्पृशत् ।
दिदृक्षया तावपि मित्रवर्गकैः प्रतस्थतुः कौतुकपूर्णमानसौ ।।३३।।

तमाम फैली हुई उस विन्ध्य पर्वत की सम्पत्ति के बारे में शुम्भ और निशुम्भ ने भी सुना और वे दोनों उस पर्वत की शोभा देखने के लिए उत्सुकता पूर्वक अपने गणों के साथ प्रस्थान कर दिये ।।३३।।

निवासतः स्वाच्चलितौ यदैव तौ तदन्तरग्रामनिवासिनो जनाः ।
प्रवेपमाना निजशक्तितोऽर्पयन् रसांश्च धान्यानि पशून् धनान्यलम्।।३४

जब दोनों अपने निवास स्थान से चले तो जिधर से वे जाते थे, आस-पास के ग्रामीण लोग काँप जाते थे और अपनी शक्ति भर दूध, दही, घी, अन्न, धन, पशु भरपूर मात्रा में देते थे ।।३४।।

तथापि तौ तोषयितुं क्षमा न ते बभूवुरेतस्य गणैस्तु निर्घृणैः ।
निपीड्यमाना अहरेति हा विधे ब्रुवन्त इत्थं सहसा विलुण्ठिताः ।।३५।।

फिर भी उन्हें प्रसन्न करने में वे लोग असमर्थ रहे । इनके निर्दय साथियों के सताए जाने पर "हाय, हाय, हा विधाता" बोलते हुए सताए और लूटे-पाटे गये ।।३५।।

इतीव मार्गे विविधानुपद्रवान् विधापयन्तौ जनमस्तकेषु च ।
निपातयन्तौ कदनाचलं गणैरुपागतौ विन्ध्यगिरिं मनोरमम् ।।३६।।

इस प्रकार वे दोनों दैत्य अनेक प्रकार के उपद्रव करवाते हुए और लोगों के सिर पर दुःख का पहाड़ गिराते हुए सुन्दर विन्ध्य पर्वत पर पहुँच गये ।।३६।।

निवासमासाद्य सुखप्रदं प्रियं फलादिभिर्भूमिभृता समादृताः ।
सुतृप्तिभाजोपि च नैव तुष्टुवुर्न दुर्जनः शान्तिमुपैति सेवया ॥३७॥

वहाँ पहुँचने पर अपने-अपने मनोनुकूल, प्रिय एवं सुखदायक फलादियुक्त स्थान को ग्रहण कर, विन्ध्य महापर्वत द्वारा सम्यक् आदर पाने पर, हर प्रकार से अत्यन्त तृप्त होने पर भी प्रसन्न नहीं हुए, क्योंकि दुर्जन सेवा से प्रसन्न नहीं होते ॥३७॥

वरप्रसूनानि च रम्यपल्लवाः फलानि पक्वानि च तुष्टिदान्यलम् ।
अकालमेवाभिनिपातितान्यहो न दुर्जनानां वरमस्त्युपागमः ॥३८॥

सुन्दर सुगन्धित फूल, कोमल पल्लव, पके हुए फल, उनके लिए तुष्टिकारक नहीं हुए, बल्कि बेसमय और बेप्रयोजन वे नष्ट-भ्रष्ट कर दिये गये, क्योंकि कहीं भी दुष्टों का जाना शान्ति के लिए नहीं होता है ॥३८॥

सदैव पूतिप्रचुरैरपावनैः प्रयाति तुष्टिं रसुनादिभिस्तु यः ।
प्रसूनगन्धोद्भवसौरभादिकं कथं भवेत्तस्य मनःप्रसादनम् ॥३९॥

जो व्यक्ति बराबर दुर्गन्धि भरे हुए लहसुन, प्याज आदि से प्रसन्न रहता है, उसे फूलों के गन्ध की सुगन्धि कैसे तृप्त कर सकती है ? ॥३९॥

यदीयतृप्तिः कटुकादिभिर्भवेदसत्पदार्थैर्नियतेति बाल्यतः ।
सुधोपमैस्तस्य फलैः कथन्नु सा क्रमेलकानां न रसालपल्लवैः ॥४०॥

जिसकी तृप्ति बाल्यकाल से कड़ुए और खराब वस्तुओं से सुस्थिर हो गई है उसे अमृत के समान मधुर फलों से कैसे तृप्ति हो सकती है ? ऊँट को आम के कोमल पल्लवों से क्या प्रयोजन ? ॥४०॥

अहर्निशं दीनजनस्य चीत्कृतिर्यदीयकर्णौ खलु तोषयेदलम् ।
विहङ्गभृङ्गादिरवैर्नु तस्य किं कडङ्गरीयस्य न वल्लकीस्वनैः ॥४१॥

जिसके कानों को निरन्तर दीनों की चिल्लाहट अत्यन्त तृप्त करती थी उसके कानों को भौंरे और पक्षियों के कलरव कैसे तृप्त कर सकते हैं ? "भैंस के आगे बीण बजे, बैठि भैंस पगुराय" ॥४१॥

पतत्रिणो ये निजनीडसंस्थिताः सदा तदुद्भूतफलैः सुधारसैः ।
सुतृप्तिभाजः कलकूजनोत्सुका निपातितास्तेऽदयमासुरैर्गणैः ॥४२॥

जो पक्षी अपने घोसलों में बैठे हुए उस आश्रय वृक्ष के मधुर फलों के रस से तृप्त हो कर मधुर कर्णमनोहर कलरव करते थे, वे उन दैत्यों के दल के द्वारा निर्दयता पूर्वक पटक कर मार दिये गए ॥४२॥

निजेच्छया ये हरिणाः कदम्बशः सुगन्धिवातेन नितान्तमुद्धताः।
विचेरुरेते निरनुग्रहैर्गणैर्विहिंसिता हा पिशिताशनैः खलैः ॥४३॥

जो हरिण सुगन्धित हवा से अत्यन्त उद्धत हो कर इच्छानुसार उछलते-कूदते रहते थे, हाय ! अब वे ही मांसाहारी दुष्ट दैत्य के दलों से निर्दयता पूर्वक मारे जाने लगे ॥४३॥

ह्रदेषु ये मीनवरा मनोहरा समुत्पतन्तः स्म हरन्ति सन्मनः।
त एव हा तत्र समागतैः खलैः समुद्धृता जालबलैर्जलान्तरात् ॥४४॥

जो मछलियाँ तालाबों में उछलती हुई सज्जनों के मन को हरती थीं, वे ही वहाँ पर आये हुए दुष्ट दैत्यों के द्वारा जाल के सहारे अथाह जल से निकाल ली गयीं ॥४४॥

विहिंसिताश्चेदिह यज्ञहेतवे भवेयुरेते क्षणदुःखभागिनः।
ततः परं तत्परमं पदं ध्रुवं व्रजेयुरात्यन्तिकसौख्यदायकम् ॥४५॥

यदि वे यहाँ पर यज्ञ निमित्तक मारे गये होते तो क्षणमात्र के लिए दुःख होता; अन्त में तो उन्हें परम पद निश्चय ही था। क्योंकि जीवन का मुख्य उद्देश्य है शाश्वत सुख प्राप्त करना ॥४५॥

जनाश्च तत्पार्श्वनिवासिनो भृशं निपीडितास्तैर्धनधान्यगोरसान्।
प्रसह्य गृह्णद्भिरिमे न चेत्स्वयं ददुस्तदा केऽपि विहिंसिता बलात् ॥४६॥

आस-पास के रहने वाले लोग पीड़ित रहने लगे और उन लोगों के धन, अन्न, गोरस दैत्य लोग जबरदस्ती लूटने-खसोटने लगे। यदि उस पर भी किसी ने आनाकानी की तो वे लोग तलवार के घाट उतार दिये गए ॥४६॥

विधाय घोरानिह कोऽप्युपप्लवान् चिरं न तिष्ठेदिह शर्म चाप्नुयात्।
सदैव कश्चिन्निभृतो हि पश्यति ददाति यो दण्डममुष्य सर्वथा ॥४७॥

संसार में कोई भी ज्यादा उपद्रव करने पर बहुत दिनों तक नहीं रहता है और न सुख ही पा सकता है। इस बात को बराबर देखते हुए भी मनुष्य क्या यह नहीं देखता है जो दूसरों को दुःख देता है और सताता है ॥४७॥

निजाश्रये वीक्ष्य गिरावुपद्रवाञ्जगन्नियन्त्री जगदम्बिका कथम्।
सहेत, कापादिगरिगह्वरादरं विनिःश्वसन्तो कुपिता विनिःसृता ॥४८॥

संसार को सीधे रास्ते पर चलाने वाली जगदम्बिका अपने आश्रित पर्वत पर इस प्रकार का उपद्रव देख कर कैसे सहन कर सकती हैं ? क्रोध से भरी हुई, जोरों की सांस लेती हुई, पहाड़ की गुफा से वह निकल पड़ीं ॥४८॥

तदीयनिश्वाससमीरिता द्रुमाः समन्ततः पत्रफलान्यपातयन् ।
तदायुधानाञ्च चमत्कृतिस्तथा कदर्यचेतांसि चकार भीतवत् ॥४९॥

उनकी साँस से निर्गत वायु से कम्पित वृक्ष तमाम फूलों और फलों को गिराने लगे और देवीजी के हथियारों का चमत्कार कायर लोगों के हृदय को कम्पित तथा भयभीत करने लगा ॥४९॥

अरेऽधमाः पीडयथाश्रितान् मम न पश्यथाद्यागतमन्तिकेऽन्तकम् ।
कदुष्णयुष्मद्रुधिरैर्मदायुधं पिपासुताशान्तिमिदं विधास्यति ॥५०॥

देवीजी बोलीं—'अरे नीचो ! मेरे आश्रितों को क्यों पीड़ित कर रहे हो ? नहीं देखते हो कि तुम्हारे निकट काल आया हुआ है ? मेरे इस हथियार की प्यास तुम्हारे गर्म रक्त से बुझने वाली है' ॥५०॥

गिरेति देव्याः कुपितोऽसुरेश्वरः सबन्धुवर्गः सगणो विनिश्वसन् ।
निजायुधैस्तां जगदम्बिकां द्रुतं प्रहर्तुमेवारभतातिवेगतः ॥५१॥

इस प्रकार देवीजी की वाणी से क्रोधित किए गए असुरराज बन्धुवर्ग तथा गणों के साथ अत्यन्त वेग से उस जगदम्बिका के ऊपर प्रहार करने लगा ॥५१॥

ततस्तयोर्युद्धमभूत्परस्परं विधाय कञ्चित्समयं सुरैः सह ।
खेलां निहन्तुं जगदम्बिका पुनश्चक्रेऽनुकम्पां दनुजाधिपं प्रति ॥५२॥

उन दोनों में परस्पर युद्ध हुआ । जगदम्बिका ने असुरों के साथ कुछ समय तक खेल करने के बाद दानवेन्द्र पर कृपा करके उसे मुक्त करना चाहा ॥५२॥

तदस्त्रसङ्घो जगदम्बिकान्तिके बभूव पुष्पप्रकरो यथा मृदुः ।
यदीयशक्त्या कुसुमं पविस्तथा स तच्च तस्याः पुरतः किमायुधैः ॥५३॥

असुरों के चलाए हुए हथियारों का प्रहार जगदम्बिका के ऊपर फूलों के जैसा कोमल हो गया । जिसकी शक्ति से फूल भी वज्र बन सकता है, उस जगदम्बा के सामने हथियारों से क्या होने को ? ॥५३॥

तदस्त्रपुष्पैर्नु समर्चिता शिवा विधाय तत्रातितरां दयामिव ।
निजास्त्रधारासुरनिम्नगास्वलं निमज्य तान् मुक्तिवतो व्यधत्त सा ॥५४

उसके हथियाररूपी फूलों से पूजित हो कर देवी ने उनके ऊपर अत्यन्त दया करके अपने अस्त्रों की धारारूपी गंगा में गोते लगवा कर उसे मुक्त कर दिया ॥५४॥

इति सकलजनान् विधाय देवी परमसुखान् परिमुक्तदुःखदैन्यान् ।
पुनरपि गिरिगह्वरं प्रविष्टा जगदघनाशकरी जगद्धिताय ॥५५॥

इस प्रकार संसार के पाप को दूर करने वाली देवीजी ने सभी लोगों को दुःख-दैन्य से मुक्त कर परम सुखी बना दिया और जगत् के कल्याण के लिए फिर भी विन्ध्यपर्वत की गुफा में वह प्रवेश कर गईं ॥५५॥

इति श्रीदेवीचरिते महाकाव्ये विन्ध्याचलवर्णनपूर्वकद्वितीयशुम्भनिशुम्भवधो नाम चतुर्दशः सर्गः ।

'श्री देवीचरित महाकाव्य' में विन्ध्याचल वर्णन तथा दूसरे शुम्भनिशुम्भवध नामक चौदहवाँ सर्ग समाप्त ।

पञ्चदशः सर्गः

आसीत्कोपि मदोन्मत्तो दानवेन्द्रो महाबलः ।
विप्रचित्तिरिति ख्यातः पृथिव्यां न्यायवर्जितः ॥१॥

इस पृथ्वी पर विप्रचित्ति नामक एक मतवाला, महावली एवं अन्यायी दैत्य था ॥१॥

समुद्रमथने पूर्वं यो विधाय परिश्रमम् ।
सुधां सम्पादयामास न त्रस्तः सर्पजाद्विषात् ॥२॥

जिसने पहले समुद्र मन्थन के समय परिश्रम करके साँप के विष से नहीं डर कर अमृत का उत्पादन किया था ॥२॥

जग्राह बलदुर्धर्षस्तदाहेर्विपुलं फणम् ।
सिक्तोपि विषफूत्कारैर्विव्यथेऽण्वपि नैव सः ॥३॥

उसी ने बलोत्सिक्त साहस कर साँप के सिर भाग को पहले पकड़ा था और विष के फुहारों से सिक्त होने पर भी जरा भी खिन्न नहीं हुआ था ॥३॥

यथा यथा सृजत्युग्रं विषं नागो निपीडितः ।
तथा तथा मदोन्मत्तो चकार श्रममुत्तमम् ॥४॥

जितना ही पीड़ित हो कर साँप विष उगलता था उतना ही अधिक मत्त हो कर वह विशेष श्रम करता था ॥४॥

देवासुरेऽथ संजाते रणे परमदारुणे ।
शस्त्रास्त्रकौशलं सम्यग् दर्शयामास यः पुरा ॥५॥

जब महाभयंकर देवासुर संग्राम होने लगा तो विप्रचित्ति ने भली-भाँति शस्त्रास्त्रों का कौशल दिखाया था ॥५॥

अति प्रहारसंविग्नान् विदधावमराँस्तथा ।
अन्यवच्छुक्रविद्यायाः सञ्जीविन्या न लक्ष्यभाक् ॥६॥

उस समय देवताओं को अपने आयुधों के भीषण प्रहार से उसने उद्विग्न कर दिया । (उस युद्ध में) अन्य दैत्यों की तरह वह शुक्राचार्य की सञ्जीविनी विद्या का लक्ष्य नहीं बना था ॥६॥

भूयो जगाम पातालं विरते वीरघस्मरे ।
संग्रामे गुरुवाक्येन वृथा मत्वा तदुद्यमम् ॥७॥

तब वीरों के संहारक युद्ध की समाप्ति पर, गुरु की आज्ञा से, युद्ध को व्यर्थ समझ कर, वह पाताल में चला गया था ॥७॥

दत्वा राज्यादिकं सर्वं विष्णवे प्रभविष्णवे ।
बलिर्बलवतां वीरो जगाम कुतलं यदा ॥८॥

सबसे अधिक बलवान् बलि जब सर्व शक्तिमान् विष्णु को सम्पूर्ण राज्य सर्मपित कर पाताल में चले गये थे ॥८॥

तदाप्रभृति दैत्यानां नोत्पातो दिवि वा भुवि ।
समयेष्वथ यातेषु दृष्टः कोपि च कौ महान् ॥९॥

तब से स्वर्ग या भूमि पर दैत्यों का उत्पात नहीं होता था। बहुत समय बीतने पर कोई एक महान् दैत्य दीख पड़ा ॥९॥

विप्रचित्तेरपत्यानि तदपत्यान्यनेकशः ।
पूर्ववैरं स्मरन्तीव रोदसी विकले व्यधुः ॥१०॥

विप्रचित्ति की सन्तानों तथा उनकी सन्तानों ने भूमि से ले कर आकाश तक को अनेक प्रकार से व्याकुल बना दिया; लगता था कि वे लोग पुराने वैर को स्मरण कर रहे हों ॥१०॥

यज्ञेष्वाच्छिद्य देवानां पश्यतां भागमुत्तमम् ।
वैप्रचित्ता बलोन्नद्धा बलाद्बुभुजिरे तदा ॥११॥

तब बल से अत्यन्त उन्मत्त हो कर विप्रचित्ति के वंशज यज्ञों में दिये हुए उत्तम देवताओं के भाग को उनके सामने ही बलात् खाने लगे ॥११॥

कृशास्तेनाभवन् देवास्तत्कृतैर्भूरिविप्लवैः ।
न क्षणादपि संतस्थुः स्वर्गं त्यक्त्वाऽन्यतो गताः ॥१२॥

उनके द्वारा किये गए अनेक उत्पातों से अत्यन्त क्षीण बने हुए देवता स्वर्ग में क्षणमात्र भी ठहर नहीं सके और उसे छोड़ कर दूसरी जगह भाग गए ॥१२॥

मुनयोपि तदुद्विग्ना धर्मकर्मपराङ्मुखाः ।
क्वाप्यज्ञातस्थितिं चक्रुर्देव्याराधनतत्पराः ॥१३॥

ऋषि लोगों ने भी उस उपद्रव के कारण उद्विग्न हो धर्म-कर्म को छोड़ कर देवी जी की आराधना करने के लिए कहीं एकान्त में अपनी स्थिति बनाई ॥१३॥

पर्वतश्रेणिमध्येऽथो मिलिताः सर्वदेवताः ।
तुष्टुवुर्मुनयश्चापि देवीं मङ्गलकारिणीम् ॥१४॥

इसके बाद देवता लोग तथा मुनि लोग पहाड़ के बीच में एकत्र हो मङ्गल-कारिणी देवीजी की स्तुति करने लगे ॥१४॥

मातस्त्वदिच्छया पूर्वं सुप्तमेतच्चराचरम् ।
जृम्भते सकलं विश्वं तदा च त्वन्निजं वपुः ॥१५॥

'हे माता ! तुम्हारी इच्छा से ही यह संसार पहले सो जाता है। तुम्हारा शरीररूपी सारा विश्व जम्हाई लेने लगता है ॥१५॥

मूलप्रकृतिरूपेणोन्मेषयस्य विलम्बितम् ।
निराकृतिजगत्सर्वं स्पन्दते लघु किञ्चन ॥१६॥

'बाद तुरन्त ही मूल प्रकृति रूप (प्रथम तत्त्व के नाम से) तुम आँखें खोलती हो। फिर निराकाररूप सारा संसार हल्का (थोड़ा-थोड़ा) हिलने लगता है ॥१६॥

यदुपाधिमवघ्राय मन्दो मानं न मुञ्चति ।
महत्तत्त्वस्वरूपा त्वं दृश्यमाना ततोऽभवः ॥१७॥

'कोई मन्द भी उपाधि पाना तो अलग है, उसके घ्राणमात्र से मान नहीं छोड़ता । इसलिए महत्तत्त्व के रूप से तुम दृष्टिगोचर होती हो ॥१७॥

न यद्विना क्षमः कश्चित्किञ्चित्कर्तुं यदृच्छया ।
अहंतत्त्वस्वरूपेण जातासीस्तदनन्तरम् ॥१८॥

'जिस (अहं) के बिना कोई कुछ भी करने में इच्छापूर्वक समर्थ नहीं हो सकता है, उस अहं तत्त्व के रूप से तुम प्रकट होती हो ॥१८॥

यदनाहतनादाख्ये त्वद्रूपे स्थिरमानसाः ।
लभन्ते योगिनः सिद्धिं ततोऽभूस्त्वं तदाकृतिः ॥१९॥

'जब योगी लोग अनाहतनादरूप तुममें चित्त को स्थिर करते हैं, तब उन्हें सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, तब तुम सोहं रूप धारण करती हो ॥१९॥

यद्गुणाश्रयणात्सर्वे प्राणिनः प्राणिनोऽभवन् ।
तत्स्पर्शगुणरूपेण पुनः स्वं रूपमाश्रिता ॥२०॥

'जिस गुण को पा कर सभी प्राणी प्राणवान् हैं, उस स्पर्श गुण रूप से तुम अपने स्वरूप को प्राप्त करती हो ॥२०॥

दर्शनीयतमं लोके यदेतद्दृश्यतेऽखिलम् ।
तवैव भेदस्तद्रूपं जातं वै तदनन्तरम् ॥२१॥

'संसार में जितनी भी दर्शनीय वस्तुएँ दीख पड़ती हैं, वे सब तुम्हारे ही रूप हैं क्योंकि रूप के नाम से तुम्हीं प्रकट हुई हो ॥२१॥

यदा स्वादवशाज्जिह्वा नर्तयत्यखिलं जगत् ।
रसस्वरूपतो देवि ! ततोऽभूर्लोकवृत्तये ॥२२॥

'जिस स्वाद के वशीभूत हो कर जीभ संसार को नचाती रहती है, हे देवि ! तुम्हीं रस रूप हो कर प्रकट हुई हो ॥२२॥

यद्गुणग्रहणाद्भूमिर्भूतानामाश्रयोऽभवत् ।
तद्गन्धरूपतामेत्य दृश्यमाना व्यजायथाः ॥२३॥

'जिस गुण के ग्रहण करने से भूमि स्थावर जंगम सभी प्राणियों का आधार बन गई उस गन्ध रूप को प्राप्त कर तुम दृश्यमान हुई हो ॥२३॥

तत्तद्गुणा न विफला भवन्तु ग्राहकान् विना।
कर्णादीन्द्रियवर्गाख्यामग्रहीस्तदनन्तरम् ॥२४॥

'वे शब्दादि गुण ग्राहकों के अभाव में निष्फल न हो जायें, इसीलिए कर्ण आदि इन्द्रिय का रूप तुम्हीं ने धारण किया है ॥२४॥

तत्तद्गुणप्रवृत्त्यर्थमिन्द्रियाणां सकामतः।
मनोरूपेण जातासीः स्वयमेव मनस्विनि ! ॥२५॥

'हे मनस्विनि ! सकाम इन्द्रियाँ अपने-अपने गुणों को ग्रहण कर सकें, इसलिए मनरूप से तुम स्वयं ही प्रकट होती हा ॥२५॥

गुणा द्रव्याश्रया नूनमितीव क्रमशोऽभवः।
आकाशवायुतेजांसि जलं पृथिवी च रूपधृक् ॥२६॥

'गुण निश्चय द्रव्याश्रित होते हैं, इसीलिए तुम क्रमशः आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी का रूप धारण करती हो ॥२६॥

इत्येवमिच्छया भूत्वा सूक्ष्मरूपैरनेकधा।
प्रपञ्चाय ततस्तेषां स्थूलरूपाण्यवासृजः ॥२७॥

'इसी प्रकार अपनी इच्छा से अनेक सूक्ष्म रूपों में प्रकट हो कर फिर उनके विस्तार के लिए स्थूल रूप का सृजन करती हो ॥२७॥

आकाशे दृश्यते यावद्वायौ तेजसि वा जले।
भुवि चापि समस्तास्ते प्रपञ्चा नात्र संशयः ॥२८॥

'आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी में जो कुछ दीख पड़ता है वह निःसंदेह सब तुम्हारा ही विस्तार रूप है ॥२८॥

यदेतच्चेष्टते विश्वं यत्किञ्चिद्विदधाति च।
तद्व्यापारस्तवैवास्ति यत्त्वं सर्वस्वरूपिणी ॥२९॥

'यह संसार जो कुछ चेष्टा करता है या निर्माण करता है वे सब आपके ही व्यापार या कार्य हैं क्योंकि आप ही संसार के रूप हैं ॥२९॥

इति सर्वस्य लोकस्य यत्त्वं बीजं हि वर्तसे।
यद्वा तत्तत्स्वरूपा च ततः सर्वं त्वमेव हि ॥३०॥

'इस प्रकार तुम समस्त संसार के बीज रूप हो या स्थूल रूप हो; अतः सब कुछ तुम्हीं हो ॥३०॥

यदि सर्वस्वरूपा त्वं कथं तेऽङ्गानि कानिचित्।
यतोऽङ्गी नाङ्गकानि स्युः मुख्यगौणादिभेदतः ॥३१॥

यदि तुम सर्वस्वरूपा हो तो तुम्हारे अंग कैसे हो सकते हैं ? अंगी अंग नहीं हो सकते; दोनो में महान् अन्तर है ॥३१॥

स्वविरुद्धानि दृश्यन्तेऽन्योन्यविद्वेषणानि च ।
अङ्गानि प्रकृतिस्तेषां भिन्नरूपाऽवलोक्यते ॥३२॥

'अंग एक दूसरे के विरोधी और सताने वाले दीख पड़ते हैं इसी से उनकी प्रकृति ही भिन्न दीख पड़ती है ॥३२॥

वामाङ्गं दक्षिणाङ्गं किं कस्यचिद्दूषयत्यहो ।
कथं दैत्यस्वरूपं ते पीडयत्यमरान् मुनीन् ॥३३॥

'किसी के बाएँ अंग उसके दाहिने अंग को दूषित कैसे कर सकते हैं ? तो फिर दैत्यरूप तुम्हारा बायाँ अंग देवता मुनिरूप दाँयें अंग को क्यों पीड़ित करता है ? ॥३३॥

विकृतं चेद्भवेदङ्गं दुश्चिकित्स्यञ्च सर्वथा ।
अङ्गीतराङ्गरक्षार्थं तन्निकृन्तति तत्क्षणम् ॥३४॥

'यदि एक अंग विकृत हो जाय और उसकी चिकित्सा सब प्रकार से दुःसाध्य हो जाय तो अंगी दूसरे अंग की रक्षा के लिए तुरन्त उस अंग को काट देता है ॥३४॥

बीजत्वाज्जननी त्वञ्चेज्जगत्यां लोकवासिनाम् ।
विपरीतगुणाः केचिद् भ्रातृविद्वेषकारिणः ॥३५॥

'संसार के बीजरूप होने के कारण तुम लोकवासियों की माता हो, तो भाई-भाई में विद्वेष का कारण विपरीत गुण उनमें कैसे है ? ॥३५॥

कस्यचिद्यदि पुत्राणां वैमत्यं जायते भृशम् ।
तेषां पिता च माता च कुरुतस्तान् पृथक् पृथक् ॥३६॥

'अतः यदि भाई-भाई में मतभेद हो जाता है तो उनके माता-पिता उन्हें अलग-अलग कर देते हैं ॥३६॥

यस्यापराधं वीक्ष्येते पितरौ लोकदूषणम् ।
प्रेषयेते तमन्यत्र तल्लोकत्राणहेतवे ॥३७॥

'माता-पिता जिसका आचरण लोक-विरुद्ध देखते हैं, उसे इस लोक की रक्षा के निमित्त दूसरे लोक में भेज देते हैं ॥३७॥

तमुपायं कुरुष्वाशु येनास्माकं विपद्गिरिः ।
मातर्दूरं व्रजेच्छान्ति चेतांसि चाप्नुयुर्भृशम् ॥३८॥

'इसलिए, हे मातः ! शीघ्र ही वही उपाय कीजिए जिससे हमलोगों की विपत्ति का पहाड़ दूर चला जाय और चित्त अत्यन्त शान्त हो जाय' ॥३८॥

इत एते स्तुवन्ति स्म वैप्रचित्ताग्रणीस्ततः ।
श्रुत्वा चारमुखात्सर्वं सगणस्तत्र संययौ ॥३९॥

इस प्रकार ये लोग स्तुति करते थे । जब विप्रचित्ति की सन्तानों के नेताओं ने दूतों के मुख से ये सब बातें सुनीं, तो अपने गणों के साथ वे लोग चले ॥३९॥

अतिवेगेन यान्तस्त आवृण्वन्तो नभस्तलम् ।
दृश्यन्ते प्रलयत्वाय सपक्षा इव पर्वताः ॥४०॥

जब ये लोग अत्यन्त वेग से आने लगे तो ऐसा दृश्य देखने में आया जैसे पंख वाले पहाड़ प्रलय करने के लिए आकाश में चल पड़े हों ॥४०॥

पूर्वकर्मार्जितैः पुण्यैः शक्तिस्तेषामलौकिकी ।
तस्याः सदुपयोगं नो विदधुस्ते कदाचन ॥४१॥

पूर्व में पुण्य करने के कारण उन लोगों को ऐसी लोकोत्तर शक्ति प्राप्त हुई थी, परन्तु उन्होंने उसका सदुपयोग नहीं कर दुरुपयोग किया ॥४१॥

पुण्यमानन्दभोगेन शनकैः क्षीयते लघु ।
तूलपुञ्जोऽनलेनेव क्षणेन परपीडनात् ॥४२॥

आनन्द के उपयोग से पुण्य धीरे-धीरे क्षीण हो जाता है; दूसरे को पीड़ा पहुँचाने से पुण्य उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जैसे आग लग जाने से रूई का पहाड़ ॥४२॥

स्थानं तत्ते समाजग्मुर्यत्र देवाः सहर्षिभिः ।
स्तुवन्ति स्म जगद्धात्रीं लोककल्याणकाङ्क्षया ॥४३॥

वे सब (विप्रचित्ति के वंशज) उस स्थान पर पहुँचे, जहाँ पर देवता लोग मुनियों के साथ जगत्कल्याण की कामना से जगद्धात्री की स्तुति कर रहे थे ॥४३॥

तदैव स्तुतिभिस्तेषां प्रसन्ना जगदम्बिका ।
पुरतो रौद्ररूपेण प्रत्यक्षा समजायत ॥४४॥

उसी समय उनकी स्तुतियों से प्रसन्न हो कर जगदम्बिका रौद्ररूप धारण कर उनके समक्ष प्रत्यक्ष हो चुकी थीं ॥४४॥

बलं विलोक्य भीमानां ग्रसतां नु जगत्त्रयम् ।
तेषामापततां चण्डी चण्डहासं जगर्ज सा ॥४५॥

उस समय चण्डी देवी ने तीनों लोकों को ग्रसने के लिए तैयार उन दैत्यों को तथा उनकी सेना को वेग से आते हुए देख कर भयंकर अट्टहास कर जोरों से गर्जन किया ॥४५॥

अमरान् सान्त्वयन्ती च भीषयन्ती द्विषद्गणान् ।
उवाच करयुग्मेनाऽभयभर्त्सनकारिणा ॥४६॥

वह (चण्डिका देवी) एक हाथ से देवताओं एवं मुनियों को सान्त्वना और दूसरे हाथ से दानवों को भर्त्सना देती हुई मुद्रा में प्रकट हो कर बोलीं—॥४६॥

विलोकयत रे मूर्खा दैतेया क्षुधितास्म्यहम् ।
युष्माकं पिशितै रक्तैस्तच्छान्ति विदधेऽधुना ।।४७।।

'अरे मूर्ख दैत्यो ! देखो, मैं भूखी हूँ। अभी तुम्हारे मांस और रक्तों से उसकी शान्ति करती हूँ' ।।४७।।

उक्त्वेति वदनं कृत्वा विततं गह्वरोपमम् ।
आकृष्याकृष्य तान् दैत्यान्प्रारेभे खादितुं शिवा ।।४८।।

देवी जी ने यह कह कर, गुफा के समान अपने मुख को फैला कर, समस्त दैत्यों को खींच-खींच कर खाना आरम्भ कर दिया ।।४८।।

वात्यागततृणानीव नदीव च महातरून् ।
अयस्कान्तो यथा धातूनाददे मुखगह्वरे ।।४९।।

जैसे बण्डोवा तृण-समूहों को, जैसे वेगवती नदी तटवर्ती वृक्षों को, जैसे चुंबक लोहा धातु को अपनी ओर खींच लेता है, उसी प्रकार चण्डिका ने उन्हें खींच कर मुख-गह्वर में देना शुरू किया ।।४९।।

दनुजाँश्चर्वयन्त्यास्तान् मुखात्तस्याः स्रवद्बहु ।
रुधिरं ददृशे शृङ्गाद् गिरेर्वा गैरिकद्रवः ।।५०।।

दैत्यों को चबाते हुए उस देवीजी के मुख से बहुत रक्त गिरता हुआ दीख पड़ा, जो ऐसा लगता था जैसे पहाड़ से घुले हुए गेरू का पानी गिर रहा हो ।।५०।।

तद्दन्ताश्चारुणा रेजुर्दाडिमीपुष्पसन्निभाः ।
स्थूलमाणिक्यमालेव स्थापिता गिरिगह्वरे ।।५१।।

उस समय अनार के फूलों के समान लाल चमक रहे उनके दाँत वैसे दीखते थे जैसे पहाड़ की गुफा में माणिक्य के बड़े-बड़े टुकड़े सज कर रखे हुए हों ।।५१।।

इति विधाय तदा विगतापदः सुखकरानथ तैर्विहितस्तुतिः ।
अभयदेन वरेण निमन्त्र्य तान् गतवती कुहचिज्जगदालया ।।५२।।

इस प्रकार देवी जी उन्हें (देव और मुनियों को) निरापद एवं सुख भोगने वाले बना कर, उनके द्वारा स्तुत हो कर तथा उन्हें अभयदान दे कर संसार के किस स्थान पर निवास करने चली गई, इसका कुछ भी पता नहीं लगा ।।५२।।

इति श्रीदेवीचरिते महाकाव्ये वैप्रचित्तवधो नाम पञ्चदशः सर्गः ।

'श्रीदेवीचरित महाकाव्य' में वैप्रचित्तों का वध नामक पन्द्रहवां सर्ग समाप्त ।

षोडशः सर्गः

समयो बलवान्न मानवः सकलं कर्तुमलं स एव हि।
अति तापयते शुचौ यदि पुनरासिञ्चति वारिभिर्भृशम् ॥१॥

समय बलवान् होता है, मनुष्य नहीं। वही सब कुछ करने में समर्थ है। यदि ग्रीष्म ऋतु में समय अत्यन्त तपाता है तो बाद में वही (समय) जलवर्षण से अत्यन्त सिक्त भी करता है ॥१॥

कुरुते यदि पत्रशातनं पुनरुत्पादयते नवं दलम्।
रजनी यदि जायते पुनर्दिवसश्रीरपि पृष्ठतस्ततः ॥२॥

यदि (समय) पतझड़ करता है तो वृक्षों में नये पल्लवों को भी पैदा कर देता है। यदि अंधेरी रात हो जाती है तो उसके पीछे दिन की शोभा भी दिखलाई देती है ॥२॥

मनुजैर्विहितापकर्मणां फलरूपः स कदापि तादृशः।
समुपागतवाञ्छनैः शनैः परिणामं स्वकृतस्य ते गमन् ॥३॥

मनुष्यों के द्वारा किए हुए बुरे कर्मों के फलस्वरूप कभी वैसा (बुरा) समय भी आ जाता है कि मनुष्य धीरे-धीरे अपने किए हुए कर्मों का परिणाम ही भोगता है ॥३॥

न ववर्ष घनाघनो घनं कति वर्षाणि च शस्यसम्पदः।
परितः क्रमशोऽल्पतां ययुः शिथिलाः श्रान्तिमुपागताः प्रजाः ॥४॥

कुछ वर्षों तक बादल ने जोरों से पानी नहीं वर्षाया और सभी ओर धीरे-धीरे अन्न के पौधे नहीं उगने लगे, तब प्रजा सब भी परिश्रम करते-करते थक कर शिथिल हो गई ॥४॥

अथ कुत्रचिदब्दमालिका यदि दृष्टा जनतर्पणप्रदा।
चपलास्फुरणैस्तु केवलं करकाभिश्च नितान्तमर्दयत् ॥५॥

बाद कहीं-कहीं घटा दीख पड़ी तो उतनी ही वर्षा हुई कि लोगों को पीने मात्र के लिए पानी मिल सका। बल्कि उस घटा ने बिजलियों की चमक दिखा कर और ओले बरसा कर अत्यन्त पीड़ित कर दिया ॥५॥

यदि भाग्यवशेन कुत्रचित्प्रववर्षापि च तत्क्षणं क्षणम्।
जलयन्त्रजशीकरानिव जलबिन्दून् कतिचिद्घनावली ॥६॥

यदि कहीं पर घटा उठी भी तो क्षणमात्र उतना ही और उसी रूप का जल बरसा जैसे क्षणमात्र फव्वारा से जल की सिंचाई हो रही हो ॥६॥

निजसद्मनि पूर्वसञ्चितैस्तृणपुञ्जैरथ धान्यकैर्जनाः ।
कतिचिद्गमयाम्बभूविरे ननु वर्षाण्यति कृच्छ्रतस्तदा ॥७॥

अपने घर में पूर्व का जमा किया हुआ पुआल-भूसों से, तथा कुछ अन्न से भी, लोगों ने जानवरों का तथा अपना जीवन-निर्वाह किया । बड़े कष्ट के साथ कुछ वर्ष बीत गये ॥७॥

कतिचिच्च घनाः शरत्समाः क्वचिदैक्ष्यन्त घनाः सुधोपमाः ।
अतिदीनतमा जनास्तदा क्षुधिताः कुत्सितकर्मतत्पराः ॥८॥

कहीं शरद् ऋतु के समान और कहीं तो एक चूने से पुते हुए उजले बादल दीख रहे थे । (उस समय) अत्यन्त दीन जन भूख से पीड़ित हो कर कुकर्म तक करने लगे ॥८॥

व्यपणन्त निजान्सुतान् प्रियान् स्वसुतान् केचन वाष्पलोचनाः ।
अवलोक्य कृशान् क्षुधातुरान् विजहुः केचिदसून् निजात्मजान् ॥९॥

कुछ लोग अपने प्राणों से भी प्रिय पुत्रों को, आँखों में आंसू भर कर, बेचने लगे । कुछ लोग अति भूख से तड़पते अपने पुत्रों को देख कर अपने प्राण तक छोड़ दिये ।।९।।

अथ किञ्चिदवेक्ष्य कस्यचित्सदने प्राप्तमतिश्रमादपि ।
विदधुर्न तदा तदाहृतौ लघुसङ्कोचमपास्तसौहृदाः ॥१०॥

किसी ने काफी श्रम करके भी घर में कुछ लाया है तो दूसरा, उसकी स्थिति पर विचार न करके, उससे छीन लेने में जरा भी संकोच नहीं करता था ॥१०॥

पुनरप्यथ नैव वारिदो गगने क्वापि कदापि वीक्षितः ।
जगतीह निरन्नतां गते वनजैर्वर्तयितुं समुद्यताः ॥११॥

बाद में आकाश में बादल तक भी नहीं दीखने लगे, संसार में कहीं भी अन्न नहीं मिलने लगा और तब सब लोग जंगली पशुओं को खाने लगे ॥११॥

परितः परिमार्ग्य चेन्मृगानपि नापन् क्षुधया निपीडिताः ।
तरुपल्लवभक्षिणोऽभवन्न पुनर्वृक्षदलानि लेभिरे ॥१२॥

भूख से अत्यन्त व्याकुल हो जंगली पशुओं को ढूँढ़ने पर भी नहीं पा कर वे लोग पेड़ के पत्ते खाने लगे । बाद में पेड़ के पत्ते भी नहीं मिलने लगे ॥१२॥

प्रखरैः किरणैरहर्पतिः सकलं शोषितवान् धरारसम् ।
जलमात्रमपीह सर्वतो न जनाः प्राप्तुमलं तदाऽभवन् ॥१३॥

बाद सूर्य भगवान् ने अपने तेज किरणों से सारे धरातल को सोख लिया और सब लोग जलमात्र पाने में भी असमर्थ हो गये ।।१३।।

इति केपि मृताः क्षुधार्दितास्तृषिताः केपि च पञ्चतां गताः ।
अपरेप्यगतायुषस्तदा म्रियमाणाः परितोऽभिवीक्षिताः ॥१४॥

इस प्रकार कुछ तो भूख से तड़प-तड़प कर और कुछ प्यास से व्याकुल हो कर मर गये। कुछ, जिनकी आयु अभी पूरी नहीं हुई थी, तड़पते हुए दीख पड़ने लगे ॥१४॥

अवशिष्टजनास्यनिर्गतो ध्वनिरुच्चैः करुणारसाप्लुतः ।
अहहेति च हा विधे इति जगदम्बाश्रुतिमार्गमाययौ ॥१५॥

बाकी बचे हुए लोगों के मुँह से जोरों से करुणापूर्ण ऐसे शब्द निकलने लगे—"ओह, ओह, हा विधाता !" ये शब्द करुणामय जगदम्बा के कानों में जा पड़े ॥१५॥

सुतपोन्नजला महर्षयः कदनं वीक्ष्य महत्प्रजागतम् ।
स्तवनैः परिपूज्य चण्डिकां विदधुः साधुदयार्द्रमानसाम् ॥१६॥

कुछ ऐसे तपस्वियों, जिनकी तपस्या ही उनका अन्न-जल था, लोगों की दीन दशा को देख कर स्तुतियों के द्वारा चण्डिका भगवती को पूज कर उनके हृदय को करुणापूर्ण दया से गीला बना दिया ॥१६॥

स्वयमेव जगद्धितैषिणी दयते सर्वजनेषु सर्वदा ।
दुरितं जनताकृतं परं कुरुते तत्करुणासु सेतुताम् ॥१७॥

जगत् का कल्याण करने वाली जगदम्बिका स्वयं ही सदा लोगों पर दया करती हैं, किन्तु लोगों का किया हुआ पाप उनके करुणासागर में बाँध लगा देता है ॥१७॥

निजपूर्वकृताघसन्ततेः परिणामं कदनात्मकं यदा ।
सकलं परिभुञ्जते जना सुखमप्याददते यदृच्छया ॥१८॥

जब लोग पूर्व में किये अपने पापों के परिणामरूप दुःख को सम्पूर्ण भोग लेते हैं तब फिर सुख पाते ही हैं ॥१८॥

अथवाऽघपरम्परापरा जगदम्बेति वदन्ति चेतसा ।
प्रभयान्धतमो रविर्यथा ध्रुवमुद्यन्ति निरस्य तत्तदा ॥१९॥

अथवा बहुत पाप से भरे हुए व्यक्ति भी यदि एक बार हृदय से 'जगदम्ब' शब्द का उच्चारण कर लेते हैं तो उनका पाप उसी प्रकार शीघ्र नष्ट हो जाता है जैसे सूर्य की प्रभा से अन्धकार-समूह ॥१९॥

जननी न सवाष्पलोचनं सुतमालोक्य दधाति धीरताम् ।
प्रददाति तदिच्छया तदा सुभगं क्रीडनकादिकं ध्रुवम् ॥२०॥

माता अपने पुत्र की आँखों में आँसू देख कर धैर्य धारण नहीं कर पाती, बल्कि उस समय निश्चित ही उसे मनमाना खिलौने आदि दे देती है ॥२०॥

स्तुतिभिश्च समर्चिताऽथवा सुतवात्सल्यवशादथाम्बिका ।
जनताघनिरासतोऽपि वा सहसा सा प्रबभूव तत्क्षणम् ॥२१॥

बाद जगदम्बिका चाहे स्तुतियों से पूजित होने के कारण, या पुत्र-वात्सल्य के कारण, अथवा लोगों का पाप निरस्त होने के कारण, एकाएक उसी क्षण वहीं पर प्रकट हो गईं ॥२१॥

करुणार्द्रनिमेषवद्दृशां शतकेनापि मुखेन शुष्यता ।
ददती परिसान्त्वना करैः सुतशोकप्रतिरुद्धकण्ठवाक् ॥२२॥

अभी वह करुणापूर्ण शताक्षी रूप से प्रकट हुईं । उनके सभी नेत्र अधखुले थे, उनका मुँह सूख रहा था, अपने हाथों से लोगों को सान्त्वना दे रही थीं और अपने पुत्रों के दुःख से उनका कण्ठ रुन्धा हुआ था ॥२२॥

मुनयोपि निरीक्ष्य तादृशीं शतनेत्रां शशिभूषणां शिवाम् ।
बहुशः परितुष्टुवुस्तदा नितरां मोदमुपाययुश्च ते ॥२३॥

मुनियों ने भी उस शताक्षी एवं चन्द्रभूषणा शिवा को देख कर अनेक प्रकार से उनकी स्तुति करने एवं अत्यन्त आनन्द प्राप्त करने लगे ॥२३॥

परितः परितप्तमेतदा परिपश्यन्त्यसमौ शिवातुरा ।
हृदयस्थकृपापगा तदा नयनेभ्यो गमयाम्बभूव सा ॥२४॥

तब चारों ओर अत्यन्त तप्त देख कर वह शिवा अत्यन्त आतुर हो अपने हृदयस्थ कृपासरित् को आंखों के द्वारा प्रवाहित करने लगीं ॥२४॥

अथ तन्नयनोद्भवा सरित् परितस्तत्र तथाऽभ्यवर्द्धत ।
सकलान् विषयानतर्पयत्सकलं चापि चराचरं जगत् ॥२५॥

उनके नेत्रों से प्रकट हुई नदी चारों ओर ऐसी उमड़ पड़ी कि सभी दिशाओं तथा चर-अचर जगत् को उसने तृप्त कर दिया ॥२५॥

नयनाश्रुविषिक्तभूमितः प्रबभूवुः सरसाः सुगन्धयः ।
अतितृप्तकरा बुभुक्षतां बहुशाका विविधा शुभप्रदाः ॥२६॥

नेत्रों के जल से सिक्त भूमि ने रस ले कर सुगन्धित तथा भूखों को अत्यन्त तृप्ति प्रदान करने वाले गुणदायक बहुत प्रकार के शाक पैदा किये ॥२६॥

प्रथमं कुहचिन्निराकृतौ निजशक्त्याहितबीजतो जगत् ।
विदधे क्रमशः सुविस्तृतं किमु तस्याः पुरतो महत्तरम् ॥२७॥

जिसने प्रथम बार निराकार जगत् रूपी बीज को अपनी शक्ति से क्रमशः विस्तृत किया था, उनके लिए यह कौन-सी बड़ी बात थी ? ॥२७॥

मनुजास्त्वरितं तदुद्भवैः प्रियशाकैर्विदधुः क्षुधाशमम् ।
अमृतं ननु यद्यदापतेत् क्षुधितस्याशु पुरो यदृच्छया ॥२८॥

मनुष्यों ने उन्हीं शाकों से अपनी क्षुधा को तुरन्त शान्त किया । भूखे मनुष्य के सामने जो अनायास जल्दी प्राप्त हो जाय वही अमृत है ॥२८॥

प्रथमं खलु ये बुभुक्षितास्तरुपत्राण्यपि नैव तत्यजुः ।
अतिकोमलशाकवल्लिका कृपयाप्ता न भवेत् सुधा कथम् ॥२९॥

पहले जो लोग पेड़ के रुखड़े पत्तों को भी नहीं छोड़ते थे, उनके लिए माता की कृपा से उत्पन्न शाक की कोमल डंटियाँ अमृत कैसे न हों ? ॥२९॥

न भवेत्खलु ते कथं सुधा जगदम्बाकृपया प्रसादिताः ।
ध्रुवमस्ति निजेष्टदेवतापरमानुग्रहलब्धवस्तु सा ॥३०॥

जगदम्बा की कृपा से प्रसादरूप में वितरित शाक अमृत क्यों न हो ? अमृत वस्तुतः वही है जो वस्तु अपने इष्ट देव के परम अनुग्रह से प्राप्त हुई है ॥३०॥

अमृतोपमशाकवल्लिभिः परितुष्टाः प्रथमं जनास्तदा ।
क्रमशोन्नमपि प्रपेदिरे प्रियमूलानि फलानि कामता ॥३१॥

पहले तो अमृत के समान शाक से ही लोग अत्यन्त तृप्त हो गये । बाद क्रमशः अन्न और फल-मूल भी मनमाना प्राप्त करने लगे ॥३१॥

पुनरभ्रपरम्पराप्यलं परितोऽभूज्जलदानतत्परा ।
जगती नवशस्यभूषिता ददृशेऽतो हरिदम्बरा यथा ॥३२॥

बाद में मत्र ओर जल बरसाने वाली घटाएँ भी प्रचुर मात्रा में उमड़ आईं और भूमि नई-नई घासों से युक्त हो हरे रंग की साड़ी पहने जैसी दीखने लगी ॥३२॥

यदि कस्यचिदूनता क्वचित्क्षणमात्रादुपजायते पुनः ।
जननीकृपया सुपूर्णता भवति प्राकृत एष निर्णयः ॥३३॥

माता के दरबार में यह प्राकृतिक नियम बना हुआ है कि यदि कहीं पर किसी वस्तु की न्यूनता हो जाती है, तो उनकी कृपा से शीघ्र ही वहाँ परिपूर्णता भी हो जाती है ॥३३॥

भुवने यदि सर्वसम्पदा परिपूर्णो भवति क्वचिज्जनः ।
अनुवासरमुन्नतिं परां लभमानो परिदृश्यतेधिकम् ॥३४॥

यदि संसार म कोई आदमी सम्पूर्ण सम्पत्ति से पूर्ण हो जाता है तो वह प्रतिदिन अधिक रूप में और भी बड़ी उन्नति प्राप्त करता हुआ दीख पड़ता है ॥३४॥

यदि सर्वसमृद्धिभिर्जनः परिपूर्णो भवतीश्वरेच्छया ।
मदसिक्तहृदा स्मरत्यहो नहि तं भाग्यविधानकारणम् ॥३५॥

मनुष्य यदि भगवान् की इच्छा से सारी सम्पत्तियों से परिपूर्ण हो जाता है, तो उसका हृदय घमण्ड से भर जाता है और अपने भाग्य-विधाता को भूल जाता है ॥३५॥

निजपूर्वदशां समृद्धिमान् न कदाचित्परिचिन्तयत्यसौ ।
अपहाय सुकर्म दुष्कृतं चिनुतेऽधोगमनाय सन्ततम् ॥३६॥

सम्पन्न मनुष्य जब अपनी पूर्व दशा को कभी नहीं सोचता है तब वह निरन्तर नीचे जाने के लिए अच्छे कर्म को छोड़ बराबर कुत्सित कर्म करने लगता है ॥३६॥

शनकैरुपचीयमानया कलुषाल्या क्षतपुण्यसञ्चयः ।
जतुसद्मवदग्नियोगतो मनुजोसौ परिणश्यति द्रुतम् ॥३७॥

धीरे-धीरे मनुष्य की कलुषावली के बढ़ने से उसका संचित पुण्य उसी तरह समाप्त हो जाता है, जिस तरह आग लग जाने से लाह का बना हुआ घर जल कर शीघ्र ही विनष्ट हो जाता है ॥३७॥

प्रबभूव तदा दुरासदो दनुजः कश्चन दुर्गनामकः ।
भुवनं परिकम्पितं भिया सकलं लोकविरोधिनस्ततः ॥३८॥

उसी समय दुर्ग नामक एक बड़ा दुर्धर्ष दानव पैदा हुआ जो संसार में उपद्रव मचाने लगा और उसके भय से सारा संसार काँप उठा ॥३८॥

यदि कस्यचिदुत्तमं गृहे श्रुतवान् रत्नमथो स्त्रियं बलात् ।
धनधान्यममूल्यवस्तु वा सकलं हारयते स्म सैनिकैः ॥३९॥

वह दानव यदि किसी घर में उत्तम रत्न या स्त्री या और कुछ धन-धान्य सुन लेता था, तो बलात् सैनिकों के द्वारा लुटवा लेता था ॥३९॥

अतिमानवकर्मकारिणो न दयन्तेण्वपि तद्बलाधिपाः ।
शिशवो यदि तत्पुरोऽहसन्नदयं तांस्तरसाऽभ्यपोथयत् ॥४०॥

मानवता के विरुद्ध काम करने वाले उसके सेनानायक लोगों पर थोड़ी भी दया नहीं करते थे । बच्चे यदि उनके सामने हँस देते थे, तो वे उन्हें झट उठा कर पटक देते थे ॥४०॥

यदि कोपि निरीक्षते शिशुः पुरतस्तस्य समग्रया दृशा ।
त्वरितं निरकाशयद्दृशावथवा कूपतलेऽक्षिपत् क्रुधा ॥४१॥

यदि कोई उसके सामने गौर से ताकने लगता था तो वह या तो उसकी आँखें निकलवा लेता था या क्रोध के मारे उसे कुएँ में ढकेल देता था ॥४१॥

निजधमपरायणां शुभामनवद्यां कुलजां च बालिकाम् ।
अपहारयतेऽपकर्मणे स्वजनैर्घातयतेस्म तज्जनान् ॥४२॥

धर्म परायण, निर्दोष, कुलीन, एवं सुन्दर बालिकाओं को अपकर्म के लिए वह अपने लोगों से बलात् पकड़वा मँगवाता था और उनके परिवारों को मार डालता था ॥४२॥

निजधर्मपरायणान् बलात्कुरुते स्मार्यसुतानधार्मिकान् ।
यदि ते सुकृतं न तत्यजुर्विवशान् दंशयते स्म कुक्कुरैः ॥४३॥

अपने धर्म में अटल रहने वाले आर्य (श्रेष्ठ) बालकों को बलात् विधर्मी बनाता था । यदि वे लोग अपना धर्म नहीं छोड़ते थे तो उन्हें विवश करके कुत्तों से नुचवाता था ॥४३॥

अथवातिदृढं नियम्य तांस्तदवयवेषु च लौहकीलकम् ।
परितः शनकैर्निखातवानिभराजैरथवाऽभ्यपेषयत् ॥४४॥

अथवा उन्हें मजबूती से बाँध कर उनके सभी अंगों में लोहे की काँटियाँ धीरे-धीरे ठोकवाता था या मतवाले हाथियों से उहें कुचलवाता था ॥४४॥

इति तद्विहिताऽनयोद्भवैर्जननिश्वाससमीरदीपितैः ।
अनलैर्विततं वनेष्विव त्वरितं तेषु समन्ततो मनाक् ॥४५॥

इस प्रकार उसके किए हुए अन्यायरूपी अग्नि लोगों के उच्छ्वास रूपी पवनों से प्रज्वलित हो कर उन दैत्यरूपी कानन में चारों ओर फैल गई ॥४५॥

अथ सा जगदम्बिका द्रुतं सकलानां जगतां हितैषिणी ।
अवलोक्य महन्निपातनं प्रबभूवोपशमाय दुर्हृदाम् ॥४६॥

बस, तुरन्त ही सारे जगत् का हित चाहने वाली जगदम्बिका उस उत्पात को देख उन दुराचारियों को शान्त करने के लिए शीघ्र ही प्रकट हुईं ॥४६॥

चपलास्फुरणाचलद्युतिः शिशुभास्वत्करभास्वराम्बरा ।
मुकुटादिविभूषणोज्ज्वला शितशस्त्रास्त्रसुसज्जिता शुभा ॥४७॥

बिजली की चमक के समान अचल कान्तियुक्त, बाल सूर्य के समान चमकीला लाल वस्त्र धारण कर मुकुट, हार आदि आभूषणों से चमत्कृत एवं तेज हथियारों से सुसज्जित जगदम्बा शोभ रही थीं ॥४७॥

अथ दैत्यकुलं निरीक्ष्य तामुरुशक्ति शशिभूषणां शिवाम् ।
चकितं स्तिमितं ससाध्वसं मनुशक्त्येव बभूव मोहितम् ॥४८॥

जब दैत्यों ने अत्यन्त शक्तिशालिनी चन्द्रमौली भवानी को देखा तो वे चकित, स्तम्भित, भयभीत तथा मन्त्र-शक्ति से मोहित-सा हो गये ॥४८॥

अथ तादृगवेक्ष्य चण्डिका मनुमुग्धं स्तिमितं दनोः कुलम् ।
निजगाद विहस्य तत्क्षणं किमिदं पीडयथाऽपरं सतः ।।४९।।

उस अवस्था में मन्त्रमुग्ध तथा स्तम्भित दानव समाज को चंडिका ने देखा तो वह हँस कर बोलीं—'यह क्यों ? सज्जनों को और भी सताओ ।।४९।।

बलमस्ति निपीडनायनो नहि शक्तिः खलु दीनहिंसने ।
बलशक्तिसमन्वितोपि चेत्परपीडाविमुखः समर्च्यते ।।५०।।

'किसी को बल मिलता है तो दूसरों को पीड़ित करने के लिए नहीं, शक्ति मिलती है तो दीनों को मारने के लिए नहीं । यदि कोई बल और शक्ति से सम्पन्न रहने पर भी परपीड़ा से विमुख रहता है तो पूजा जाता है ।।५०।।

विपदापततीह तेष्वलं परपीडाव्रतिनो हि ये जनाः ।
परशातनपापपूरिता न हि तिष्ठन्ति चिरं महीतले ।।५१।।

'जिन लोगों ने परपीडा के लिए ही व्रत ले लिया है उनके ऊपर विपत्ति अवश्य आती है । दूसरों को सताने से जिन लोगों के पाप का घड़ा भर जाता है वे लोग संसार में अधिक समय तक नहीं रह पाते हैं ।।५१।।

कुह तिष्ठति दुर्गनामको बलदृप्तोऽबलहिंसनव्रती ।
अधुनाहमुपस्थिता द्रुतं ननु दुर्गा तमरिं विहिंसितुम् ।।५२।।

'दुर्बलों को मारने का व्रत लिए हुए, बल से उद्धत, दुर्ग नाम का दैत्य कहाँ रहता है ? अभी तुरन्त उस शत्रु को मारने के लिए मैं दुर्गा पहुँच गई हूं' ।।५२।।

श्रुतवानिति चण्डिकागिरं निजदुर्गात्सहसास्त्रशस्त्रधृक् ।
निरियाय बलान्वितो बली युयुधे सार्धमसौ तया तथा ।।५३।।

तब वह बलवान् (दुर्ग) इस प्रकार चण्डिका के ऐसे वचन को सुन कर शस्त्रास्त्रों को धारण किये हुए तथा सैनिकों को लिए हुए उनसे युद्ध करने के लिए एकाएक दुर्ग से निकला ।।५३।।

बलमात्मगतं प्रदर्शयन् सुचिरं तत्पुरतो गणान्वितः ।
गतवानविचिन्तितां दशां फलमाप्तपरपीडनोचितम् ।।५४।।

देवी जी के सामने अपने गणों के साथ बहुत दिनों तक आत्मगत बल दिखलाता हुआ वह वैसी दशा को पा गया जिसे उसने कभी सोचा भी नहीं था । दूसरों को कष्ट देने का उचित ही फल उसे मिला (अर्थात् वह मारा गया) ।।५४।।

मुक्तापदेतदखिलं भुवनं बभूव दुर्गाभिधेऽसुरवरे विहते तदानीम् ।
दुर्गापि लोकसुखदा सुजनैरजस्रं संस्तूयमानबलकीर्तिगुणा प्रसन्ना ।।५५।।

दुर्ग नामक दैत्य के मरने के बाद सारा संसार आपत्ति से मुक्त हो गया। दुर्गा महारानी भी सज्जनों के द्वारा बल, कीर्ति तथा गुणों की प्रशंसा किए जाने पर संसार को सुखी बनाने में तत्पर हो गईं ।।५५।।

इति श्रीदेवीचरिते महाकाव्ये शाकम्भरीप्रादुर्भावदुर्गदैत्यवधो नाम षोडशः सर्गः ।

'श्रीदेवीचरित महाकाव्य' में शाकंभरी देवी की उत्पत्ति तथा दुर्ग नामक दैत्य का वध नामक सोलहवाँ सर्ग समाप्त ।

सप्तदशः सर्गः

अथ कदापि बभूव निशाचरो जनमनःकदनप्रणयोऽनयः।
प्रबलदर्पदवानलरूपिणः सहचराश्च चरा रजनीचराः ॥१॥

किसी समय, लोगों के मन को दुखाने में ही प्रेम रखने वाला, एक अन्यायी निशाचर पैदा हुआ, जिसके सहयोगी प्रवल अभिमानरूपी अग्नि-रूप बहुत से राक्षस हुए ॥१॥

इह विजित्य समानवनीपतीनचिरतः सकलानथ दिक्पतीन्।
सुरवरान् सुरलोकनिवासिनस्तदधिकारमिमे समपाहरन् ॥२॥

यहाँ के सभी राजाओं तथा दिक्पालों को और देव लोक में रहने वाले देवताओं को जीत कर उनके अधिकारों को उन लोगों ने स्वयं छीन लिया ॥२॥

अथ महर्षिगणोप्यवलोक्य तं भुवि निशाचरजन्यमुपद्रवम्।
निजविधिं प्रतिपालयितुं गतो हिमवतः शिखराणि समन्ततः ॥३॥

महर्षिलोग भी भूमि पर राक्षसों के किये हुए उपद्रव को देख कर अपने नियम का प्रतिपालन करने के लिए हिमालय के शिखरों पर चले गये ॥३॥

तदुपधार्य निशाचरनायको निजगणान् गणनारहितान् द्रुतम्।
विविधविघ्नविधानविधायकान् गिरिवरं प्रवरं समजीगमत् ॥४॥

उस निशाचर ने महर्षियों को हिमालय की ओर भागे हुए जान कर अनेक प्रकार के विघ्न पैदा करने वाले अपने असंख्य गणों को गिरिवर हिमालय पर शीघ्र ही भेजा ॥४॥

कमलमासनमासनसंस्थिता दृढतरं प्रणिधाय समाहिताः।
करणजातमरं कृतनिग्रहमतिविधाय परं परमाप्नुवन् ॥५॥

दृढ़ पद्मासन लगा कर आसन पर समाधिस्थ हो कर बैठे हुए मुनि लोग शीघ्र ही इन्द्रियसमूह को वशीभूत कर परम तत्त्व का अनुभव कर रहे थे ॥५॥

असुसमीरनिरोधपरायणा हृदयपद्मविकाशनिरीक्षणाः।
प्रियतमां प्रतिमां प्रतिभामयीं हृदि निधाय परां मुदमाप्नुवन् ॥६॥

कुछ मुनि लोग प्राण वायु को रोके हुए, हृदय-कमल को खिले हुए देखने

वाले, हृदय में अपनी अत्यन्त प्रतिभामयी मूर्ति को बैठा कर परमानन्द प्राप्त कर रहे थे ।।६।।

स्वरसनां सतताभ्यसनादरात्ततरां नितरां निजतालुनि ।
लघु निवेश्य कुतोपि सरत्सुधामथ तथा निजपिङ्गलया पपुः ।।७।।

कुछ लोग बरावर अभ्यास करने से अपनी जीभ को सुगमता पूर्वक तालु में प्रवेश कर किसी अज्ञात स्थान से गिरते हुए अमृत को अपनी पिंगला नामक चन्द्र नाड़ी से पी रहे थे ।।७।।

तनुचरत्पवनायमनोद्यमा परिसरत्करणाऽवनतत्पराः ।
निजसहस्रदलाब्जगतं महः किमपि केपि परं तदभावयन् ।।८।।

कुछ लोग अपने शरीर में विचरने वाली वायु को तत्परता पूर्वक रोक कर और विचरने वाली अस्थिर इन्द्रियों को तत्परता पूर्वक संयमित कर (अपने मस्तक पर विराजमान) सहस्रदल कमल से निकलते हुए कुछ विचित्र तेज का अनुभव कर रहे थे ।।८।।

शुचि विधाय च खेचरसाधनं विदधते स्म वियद्भ्रमणं मुदा ।
अधिगता अणिमादिकसाधुतां निजमनोऽनुविधं विदधुर्विधिम् ।।९।।

कुछ लोग आकाश में उड़ने के साधन में सफल होकर आनन्दपूर्वक आकाश भ्रमण कर रहे थे और कुछ लोग अणिमा आदि सिद्धि प्राप्त कर अपने मन के अनुसार कार्य कर रहे थे ।।९।।

क्वचन केचन केचन कुर्वते विविधयज्ञविधौ स्म महाश्रमम् ।
निगमशिष्टविशिष्टविधानके विकृतदिष्टसमिष्टविधानके ।।१०।।

कहीं पर कुछ लोग वेद में बतलाये हुए अच्छे से अच्छे विधान के अनुसार यज्ञ में परिश्रम कर रहे थे तथा कुछ भाग्यहीन लोग सत्कर्म से वञ्चित हो कर नहीं भी कर रहे थे ।।१०।।

सततसंयतसंततसद्विधौ क्रतुवरे प्रवरेण्यजनावृते ।
निहितभागसुभाग्ययुतायुतामरवरैरवरैस्तुतुषे भृशम् ।।११।।

सदा संयमित जीवन व्यतीत करने वाले कुछ लोग विधि-विधान के साथ यज्ञ कर रहे थे जिसमें अनेक अच्छे लोग आये हुए थे । भाग्यवान् देव लोग एवं उपदेव लोग उनके द्वारा अत्यन्त पुष्ट किये जा रहे थे ।।११।।

अमृतमस्त्यमृताशनतृप्तिदं हुतभुजि ज्वलितेऽर्पितपायसम् ।
श्रुतिसमुद्धतमन्त्रसमन्वितं मुनिवरत्रिवरस्वरसंयुतम् ।।१२।।

यज्ञ में अति प्रज्वलित अग्नि में दिया हुआ हविष्य ही अमृत है। यदि वही हविष्य वैदिक मन्त्रों से मिश्रित एवं मुनियों के द्वारा 'उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित' से युक्त हो तो अमृतभोजी देवताओं को तृप्त करने वाला होता है ॥१२॥

अथ घनोऽतिघनो रजनीचरप्रवरप्रेषितसङ्घ उपागत।
गगनमण्डलमावृतवानसौ रुधिरवर्षमवर्षयदध्वरे ॥१३॥

असुरराज द्वारा प्रेषित खूब गाढ़े बादल के समान असुरों की सेना वहाँ पहुँच कर आकाश में चारों ओर छा गई तथा उस यज्ञ में रक्त की वर्षा करने लगी ॥१३॥

कुहचनास्थिचयञ्च समक्षिपत्क्वचिदपातयतातिपुरीषकम्।
क्वचन मूत्रममूत्रयदम्बराद्विकृतमित्थमसावकरोत् क्रतुम् ॥१४॥

कहीं पर वह ढेर-की-ढेर हड्डियाँ, कहीं पर विष्टा और कहीं पर मत्र बरसाने लगी। इस प्रकार उस यज्ञ को उसने विकृत कर डाला ॥१४॥

प्रभुरभून्नहि भूतनिराकरो मुनवरोऽम्बरचारिनिराकृतौ।
तदुपदिष्टजलावरणान्तरं न हि कदाप्युपसर्पति तद्गणः ॥१५॥

भूतनिवारक श्रेष्ठ मन्त्र आकाशचारी उपद्रवियों को हटाने में समर्थ नहीं हुआ। भूमि पर रहने वाले उपद्रवी उस मन्त्र से अभिमन्त्रित जल के घेरे के भीतर नहीं प्रवेश करते हैं ॥१५॥

प्रसृतभूपरिसर्पनिराकरो मनुरसौ कथमम्बरचारिणाम्।
पटुतरोपि पटुः परिसर्पणे भवतु वावरणं दिवि तज्जलैः ॥१६॥

वह मन्त्र भूमिवासी उपद्रवियों को दूर भगाने में अत्यन्त समर्थ रहने पर भी अम्बरचारियों को हटाने में कैसे समर्थ हो सकता है अथवा उससे अभिमन्त्रित जल आकाश में कैसे अपना प्रभाव डाल सकता है ? ॥१६॥

स्थिरतरस्य रहस्यवतिष्ठतो मुनिवरस्य तपस्यत आश्रमे।
विदधुरेकतरस्य निपातनं परतरस्य च कस्यचनैजनम् ॥१७॥

एक मुनि अपने आश्रम में छिप कर एकान्त में दृढ़ आसन लगा कर तपस्या कर रहे थे। उन उपद्रवियों ने उन्हें पटक दिया और एक दूसरे को उन लोगों ने धून डाला ॥१७॥

अथ निरस्य कमण्डलुमस्य चापरतरस्य जपस्रजमासनम्।
मदिरयेतरकस्य तपःक्षितिं सिषिचुराधिमधुः सुसमाधिषु ॥१८॥

किसी का कमण्डलु, किसी की जपमाला, किसी का आसन फेंक दिया गया और किसी की तपोभूमि को मदिरा से सींच दिया। इस प्रकार समाधि में ऊधम मचाकर उन्हें मानसिक पीड़ा दी गई ॥१८॥

करुणया तरुपल्लवमप्यहो निजकरैर्न परैर्लुलुवुः पुरा ।
विशसनं मृगपक्षिगणस्य तन्नयनसम्मुखतो विदधेऽधुना ॥१९॥

जिन मुनियों ने दयावश पहले कभी अपने हाथों से पेड़ के नये पत्ते तक नहीं तोड़े थे, अब उन्हें अपने सामने पशु-पक्षियों को मारे जाते देखना पड़ रहा था ॥१९॥

खगरुतं परितोऽभिमतं श्रुतं कलतमं श्रवणामृतमादरात् ।
विकलमद्य च तत्कृतचीत्कृतिरसुरजन्यनिपातनतः श्रुता ॥२०॥

पहले जहाँ पर चारों ओर कर्णप्रिय, मनोनुकूल, अमृत के समान, तृप्ति-दायक, पक्षियों का मधुर कलरव सादर सुन पड़ता था, अब असुरों के उपद्रव के कारण उन पक्षियों की व्याकुलतापूर्ण चिल्लाहट सुनाई पड़ने लगी ॥२०॥

विचरणं प्रथमं मृगशावकैर्विहितमक्षिषु वीक्ष्य तुतोष यः ।
ऋषिगणेन च तेन विलोकितं सकरुणं भुवि तत्परिचेष्टनम् ॥२१॥

पहले मुनि लोग अपनी आँखों के सामने जिन हरिणियों के छौनों को विचरते हुए देख कर आनन्द पाते थे, उन छौनों को जमीन पर छटपटाते हुए उन्हें देखना पड़ रहा था ॥२१॥

अपगते सुकृते जगतीतलात् कृतवतां विविधं परपीडनम् ।
उपचितेऽथ शनैरतिदुष्कृते भवति नूनमनूननिपातिता ॥२२॥

जब भूमि पर से धर्म भाग जाता है और धीरे-धीरे उस पर अधर्म बहुत बढ़ जाता है, तब अनेक प्रकार से पीड़ा देने वालों का बिल्कुल विनाश निश्चित है ॥२२॥

यदि परापकृतौ निरता जनाश्चिरतरं सुखशर्म समन्वियुः ।
अमितकष्टविधेयसुकर्मणे भवतु यत्नपरो भुवि कोऽनिशम् ॥२३॥

यदि दूसरों की बुराई करने में तत्पर रहने वाले ही चिरकाल तक सुख शान्ति पाते रहें, तो अत्यन्त कष्ट से होने वाले सुकर्म में पृथ्वी पर कौन आदमी अहर्निश यत्नवान् रहेगा ? ॥२३॥

यदि कुकर्मकृतां क्षणमुन्नतिः कुहचनाक्षिषु याति यदा कदा ।
अचिरनिर्वपनोन्मुखदीपता ध्रुवमसौ, दुरितं न हि शर्मकृत् ॥२४॥

यदि दुष्कर्म करने वाले की उन्नति क्षण भर के लिए अत्यधिक दिखलाई

पड़ती है तो यह निश्चय ही बुझने वाले दीपक का प्रकाश है। पाप कभी भी सुखदायक नहीं हो सकता ॥२४॥

यदि भवेदपकर्मकृतौ रतिः पतनकालमरं परिभावयेत्।
सुकृतनिर्मलबुद्धिबलेन तामचिरमेव निरस्यतु बुद्धिमान् ॥२५॥

यदि बुरा कर्म करने में किसी को रुचि हो जाय तो समझना चाहिए कि शीघ्र ही उसके पतन का समय निकट आ गया है। ऐसी अवस्था में बुद्धिमान् को चाहिए कि सुकर्म करके निर्मल बुद्धि-बल से उस रुचि को दूर हटा दे ॥२५॥

यदि कदाप्युदियात्सुकृतेऽधिकं रुचिररं रुचिरं समयं विदन्।
विविधविघ्नमपास्य धिया पुनः स्थिरतरां सुविधातुमलं भवेत् ॥२६॥

यदि कभी धर्म में अधिक रुचि हो जाय, तो समझना चाहिए कि शीघ्र ही अच्छा समय आने वाला है। उस समय अनेक विघ्न उपस्थित होने लगते हैं, किन्तु उन्हें बुद्धि के द्वारा दूर कर धर्म-कार्य में स्थिरता लाना चाहिए ॥२६॥

इति विलोक्य शिवा शिवकारिणी सकललोकयथेष्टविहारिणी।
अघवतामसतामसुहारिणी प्रकटिता घटिताद्भुतविग्रहा ॥२७॥

इस प्रकार दैत्यों का उपद्रव देख कर, कल्याण करने वाली, सभी लोकों में अपनी इच्छानुसार विचरण करने वाली, पापी असुरों को नाश करने वाली, जगदम्बा अद्भुत रूप धारण कर प्रकट हुई ॥२७॥

यदतिरम्यमुखस्य सदार्तिकां विदधतेस्म शतं रजनीकराः।
तदधुना वदनं रजनीचराहतिकृते विकृतं कृतितो धृतम् ॥२८॥

सैकड़ों चन्द्रमा मिल कर जिसके अति सुन्दर मुख की आरती उतारते हैं उसी मुख को जगदम्बा ने निशाचरों के नाश हेतु बनावटी रूप से अति विकृत बना डाला ॥२८॥

यदि बृहद्गिरिगह्वरसन्निभं मुखमभूद्दशना अति कूटवत्।
अरुणधातुसमा रसनान्तरे चपलतोपगता च शिलोपमा ॥२९॥

यदि जगदम्बा का मुख बड़े पहाड़ की गुफा के समान बना और उसमें पहाड़ के शिखर के समान दाँत तथा गेरू के शिलाखण्ड के समान लपलपाती हुई जीभ बन गयी तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? ॥२९॥

वदनमीदृगभूद्यदि भीषणं नयनयुग्ममपीन्दुदिवाकरौ।
अभवतां यदि तावुचितौ ध्रुवं त्रिभुवनाकृतिरस्ति यतो हि सा ॥३०॥

यदि मुख ऐसा भयंकर हो गया तो आँखें सूर्य और चन्द्रमा के समान क्यों न हों ? आखिर संसार का रूप भी तो वही है। उचित अनुपात में ही तो सब कुछ रहना चाहिए ॥३०॥

विकटतादृशतद्वदने कथं तिलकपुष्पसमा वरनासिका।
लघुगुहोर्ध्वगशृङ्गसमाऽभवत्सकलमेव समं परिशोभते ॥३१॥

उस प्रकार के भयंकर मुख में तिल के फूल के समान सुन्दर नाक कैसी लगती ? इसलिए पहाड़ के शिखर के समान ऊँची नाक, जिसके भीतर ऊर्ध्वगामी दो गुफाएँ हैं, तैयार हो गईं। समान अनुपात में ही रहने से सब कुछ अच्छा लगता है ॥३१॥

अवयवा अपराश्च यथाऽभवन् वदनमेव विलोक्य विचार्यताम्।
गिरिबृहच्छिखराङ्घ्रिभिरेव तच्छदृशतानुमितौ परिकल्प्यताम् ॥३२॥

और अंग कैसे तैयार हुए होंगे, यह मुख को ही देख कर समझ लेना चाहिए। पहाड़ के बृहत् शिखरों के समान पैरों से भी यह अनुमान किया जा सकता है ॥३२॥

हिमवतः शिखरेऽति समुन्नते सिततमे शुशुभेऽद्भुतरूपिणी।
घनघनोपमनीलगिरिर्यथा भ्रमति तत्परितोपि च तिष्ठति ॥३३॥

हिमालय के शुभ्र तथा ऊँचे शिखरों पर भ्रमण करती हुई वह अद्‌भुत रूप से शोभ रही थी। लगता था कि हिमालय पर घन-घटा के समान नीलगिरि भी चक्कर लगाता हुआ घेर कर छा गया है ॥३३॥

नहि भवेद्यदि तादृशमानन गिरिगुहासदृशं नितरां बृहत्।
वनगजा इव तद्रजनीचराः कथमिवात्र विशेयुरलं सुखम् ॥३४॥

यदि पहाड़ की गुफा के समान उतना बड़ा मुख नहीं होता तो जंगली हाथियों के समान राक्षस लोग उसमें आसानी से कैसे प्रविष्ट होते ? ॥३४॥

जरठतालतरुप्रतिमैर्भुजैर्गिरिवरे प्रसृतान् रजनीचरान्।
परित आददती दधती मुखे प्रददती ददृशे च महादती ॥३५॥

बड़े-बड़े दाँत वाली जगदम्बा पुराने ताड़ के पेड़ के समान भुजाओं से हिमालय पर राक्षसों को धरती-पकड़ती, मुँह में देती हुई, चारों ओर दीख पड़ी ॥३५॥

कुलिशसारमयैरिव पाणिभिः श्रुतितले ददती च चपेटिकाम् ।
मदवतोत्यपरान् भयकम्पितान् विदधती तलताडनतो व्यसून् ।।३६।।

वज्रसार के सदृश हाथों से कनपट्टी में तड़ी जमाती हुई तथा नशा एवं भय से कांपते हुए किन्हीं और राक्षसों को प्राण-रहित बनाती हुई, वह देखी गई ।।३६।।

करतलैरथ काँश्चन भूमिसात्पदतलैर्विविधानपि धूलिसात् ।
श्वसनकम्पनकम्पितविग्रहान् व्यसनतोऽम्बरतः पततोऽप्यधः ।।३७।।

किन्हीं के हाथों से जमीन पर गिराती हुई, अनेक को पैरों से धूल में मिलाती हुई और दुःख के कारण जोरों की साँस से कम्पित शरीर वाले अनेकों को आकाश से गिराती हुई देखी गई ।।३७।।

करगृहीततमोप्यथ कश्चन ग्रहगृहीत इवच्छुटितोऽपि सन् ।
वदनमेव विवेश परिभ्रमन् स्वयमवेन्न च कश्चन कालतः ।।३८।।

कई राक्षस जगदम्बा के हाथ से पकड़ाने पर किसी प्रकार छूट कर भी इधर-उधर चक्कर लगाते हुए, ग्रह-गृहीत के समान स्वयं ही जगदम्बा के मुख में घुस पड़े । काल से कोई भी बच नहीं सकता ।।३८।।

अवति सा समुपस्थितकालतो निजसुतं जननी करुणामयी ।
शरणमेव च तां समुपैत्वलमभिलषेद्यदि तच्चिरजीविताम् ।।३९।।

वह करुणामयी जननी अपने पुत्र को निकट में आये हुए काल से रक्षा करती है । यदि उनसे चिरजीविता की कोई इच्छा रखता हो तो एकदम उन्हीं की शरण में क्यों नहीं उपस्थित हो ।।३९।।

यदि जगज्जननी स्वयमेव सा ह्यवनतत्परतामवलम्बते ।
अपि दुरत्ययकालमुखं गतश्छुटति तत्क्षणमप्यटति क्षितौ ।।४०।।

यदि वह जगदम्बा स्वयं ही संरक्षण में तत्पर हैं तो महाकाल के मुख में गया हुआ प्राणी भी तत्क्षण छूट ही जाता है और भूमि पर विचरण करने लगता है ।।४०।।

विमुखतामथवा यदि चण्डिका श्रयति कुत्रचनाघभरावृते ।
कुसुमसंप्रहृतिं सहते जनो नहि कदाप्यवनाविह कश्चन ।।४१।।

अथवा चण्डिका यदि पाप से घिरे हुए व्यक्ति से विमुख हो जाती है तो वह फूल के प्रहार को भी कदापि नहीं सहन कर सकता ।।४१।।

अवति या सकलं भुवनं सदा स्वयमसौ यदि भक्षणतत्परा ।
किमिव तिष्ठतु भूमितले क्षपाचरकुलं सकुलं न विहन्यताम् ॥४२॥

जो सारे संसार की सदा रक्षा करती है, वही स्वयं यदि भक्षण करने के लिए तैयार हो जाय तो भूमितल पर कोई भी राक्षसवंश अपने परिवार के साथ कदापि नहीं रह सकता ॥४२॥

विनिहताः निखिला रजनीचरा बहुतरा अशिता अपि तेषु च ।
हिमवतो रुधिरारुणनिम्नगा निरगमन् रविरश्म्यरुणा इव ॥४३॥

सब राक्षस मारे गये । उनमें से बहुतों को भक्षण कर लिया गया । खून की लाल नदियाँ निकल पड़ीं । जान पड़ता था कि सूर्य की रश्मियों से लाल हो कर हिमालय से नदियाँ बह रही हों ।।४३॥

उषसि या रविरश्मिभिराचिता हिमवतो भवति द्युतिरुज्ज्वला ।
क्षतजतो रजनीचरसम्भवादभवदद्य समन्तत एव सा ॥४४॥

सफेद हिमालय की कान्ति प्रातःकालीन सूर्य की रश्मियों से लाल चमकने लगती है । राक्षसों के रक्त के कारण वह दिन भर के लिए वैसी हो गई ॥४४॥

हरिनखाग्रविदारितकुम्भवत्करिवरा इव ते रजनीचराः ।
विकचकिंशुकनीलशिलावनीधरशिरांसि यथा परिरेजिरे ॥४५॥

वे राक्षस सिंह के नख द्वारा फाड़े हुए मस्तक वाले हाथी के समान अथवा नीलगिरि के उन शिखरों के समान, जिन पर पलाश के फूल खिले हुए हों, शोभ रहे थे ॥४५॥

हिमवदाश्रयणाः समजन्तवो विगतविघ्नभयाः सुखिनोऽभवन् ।
मुनिगणा अपि तत्र निरापदो विविधवाग्भिरमूं परितुष्टुवुः ॥४६॥

हिमालय पर रहने वाले सभी प्राणी विघ्न एवं भय रहित तथा सुखी हो गये । वहाँ पर मुनि लोग भी निरापद हो कर अनेक प्रकार के वाक्यों से उस जगदम्बा की स्तुति करने लगे—॥४६॥

जननि विश्वमिदं तव पुत्रको भवति तत्र दया सकलेऽमिता ।
यदि परं परिपीडयतेऽपरस्तमरमापयसे परनिर्वृतम् ॥४७॥

'हे माता ! यह संसार तुम्हारा पुत्र है । इसलिए इस पर तुम्हारी पूर्ण दया रहती है । यदि एक दूसरे को कष्ट पहुँचाता है तो शीघ्र ही पीड़ित को सुखी बना कर उसे सान्त्वना देती हो ॥४७॥

इति कृते निजसोदरपीडिता अपि गताः परितः परनिर्वृतिम् ।
परतरा निजदेशवदङ्गकं लघु विहाय ययुः शममुत्तमम् ॥४८॥

'ऐसा करने से अपने भाइयों से पीड़ित होने पर भी लोग सभी ओर उसी तरह शान्ति प्राप्त कर लेते हैं, जैसे अपने ही एक बड़े अंग से छोटे अंग को कष्ट होने पर तीसरा अंग उसकी सहायता करके उसे सुखी बनाता है। (उसी प्रकार देश की भी व्यवस्था रहती है) ॥४८॥

यदि विलोकयते जननी सुतौ कलहकर्मणि तत्परमानसौ ।
उभयतोन्यतरं ग्रहिलं शठं परिविविच्य पृथक् कुरुते द्रुतम् ॥४९॥

'माता यदि दो पुत्रों को परस्पर कलह करने में तत्पर देखती है तो दोनों में से एक दुष्ट को जिद्द करते देख कर शीघ्र ही उसे उससे अलग कर देती है ॥४९॥

जननि ! दर्शय रूपमनुत्तमं जहिहि लोकभयङ्करमद्भुतम् ।
निजकुकर्मफलं भुवनद्विषः प्रतिययुर्नहि किञ्चन शिष्यते ॥५०॥

'हे माता ! लोक भयंकर इस विचित्र रूप को दूर कर अपना सुन्दर रूप दिखलाइए। संसार को कष्ट पहुँचाने वाले अपने कुकर्म का फल भोग चुके। अब कुछ भी शेष नहीं रह गया ॥५०॥

कुरु मनांसि सतां नखचन्द्रिकाहततमांस्यधुना जगदम्बिके ! ।
अरुणपद्मनिभं चरणद्वयं हृदि निधाय विधेहि सरागकम् ॥५१॥

'हे जगन्माता ! अब अपने चरणनख की चाँदनी से सज्जनों के मन में अवस्थित अन्धकार को दूर कर उसे प्रकाशमय बना दें और लाल कमल के समान दोनों चरणों को उनके मन में स्थापित कर रागयुक्त कर दें ॥५१॥

कनकहंसकहंसकलस्वनश्रवणसोत्सुकितं श्रवणद्वयम् ।
कुरु सुनिर्वृतमद्य दयानिधे ! द्रुततरं दयतां दयनीयके ॥५२॥

'हे दयासागर जननी ! अपने सुपुत्रों के दोनों कानों को सोने के पायल रूप हंस के मधुर रव को सुनने के लिए उत्सुक तथा सुनने के बाद परमानन्दलीन बना दें। हे माता ! अति शीघ्र ही दयनीय पुत्र के ऊपर दया करें ॥५२॥

शिशुरविद्युति ते वसनं शुभं कनकसूत्रकृतोत्तमपुष्पकम् ।
हरतु सद्धृदयं हरपत्निके ! नहि दिगम्बरता ह्युचिताऽधुना ॥५३॥

'हे गौरि ! तुम्हारे वस्त्र बाल सूर्य के समान चमकीले और सज्जनों के मन को हरने वाले हैं, जिनमें सोने के तार से उत्तम फूल बने हैं। इस समय दिगम्बरता उचित नहीं प्रतीत होती ॥५३॥

कटितरं रमणीयतरं शिवे! शिवतरं मणिमेखलयाञ्चितम्।
चिरमवेक्ष्य जनो जनपालिके! सुखमनन्तमवाप्स्यति ते कदा ॥५४॥

'हे लोकपालिके शिवे! मणिमय मेखला से युक्त तुम्हारी सुन्दर एवं कल्याणकारी कटि को बहुत देर तक देख कर लोग कब अनन्त सुख पायेंगे?॥५४॥

प्रतनुतारकिताम्बरसल्लसद्वसनकञ्चुकमध्यविनिर्गता।
कनककन्दुकतुल्यकुचद्वयातिसुषमा सुखमातनुतां द्रुतम् ॥५५॥

'हे मातः! (पुत्र की दृष्टि अपने पोषक स्तन के ऊपर जाती है; अतः) महीन तारों से चित्रित आकाश के समान फूल कढ़े हुए कपड़े की कञ्चुकी के मध्य से निकलती हुई सोने के गेंद के समान स्तनों की सुषमा शीघ्र ही आनन्ददायक हो ॥५५॥

त्रिवलिभूषितहारविभूषणाधिकविभूषितमम्बरभूषितम्।
भवतु ते कुचकञ्जयुगं शुभे! शुभतरं शुभदं शुभकामिनाम् ॥५६॥

'हे मङ्गलरूपे शिवे! तुम्हारी त्रिवली पर शोभित मोतियों की माला से विभूषित एवं वस्त्र से अलंकृत दोनों सुन्दर स्तन मंगल चाहने वालों के लिए अत्यन्त शुभदायक हों ॥५६॥

सुभगकम्बुसमे सुभगे! शुभे तव गले विगलत्सुषमाञ्चिते।
कनकरत्नमयं वरभूषणं भवतु नो नयनद्वयतर्पणम् ॥५७॥

'हे सौभाग्यशाली जगदम्बे! सुन्दर शंख के समान सुन्दर तथा निकलती हुई सुषमा से पूर्ण तुम्हारे गले में रत्न जड़ित सोने का सुन्दर भूषण हम लोगों की आँखों को तृप्त करने वाला हो ॥५७॥

नवपलाशनिभेऽत्यरुणाधरे चपलमुज्ज्वलमौक्तिकभूषणम्।
परिनटन्नव चन्द्रगतं भवेदुडु यथा रुचिरं रुचिकारकम् ॥५८॥

'हे जगदम्बे! नव निर्गत पल्लव के समान सुन्दर होठ पर चंचल उज्ज्वल रत्नों का भूषण उदीयमान चन्द्रमा में नाचते हुए तारा के समान सुन्दर आनन्ददायक हो जाय ॥५८॥

करमनोहरभास्करसन्निभामलकपोलसमीपविराजितम्।
वदनपङ्कजसंस्थितखञ्जनद्वयमये! लघु दर्शय साम्प्रतम् ॥५९॥

'अयि माता! किरणों से सुन्दर सूर्य के समान निर्मल गालों के समीप सुशोभित मुखरूपी कमल पर आँखरूपी दो खञ्जनों को इस समय जरा दिखला दो ॥५९॥

अमृतसारमये रजनीकरे निजमुखे खसमे नलिनीदले।
चपलमीनवरावथवा वरे! वरतरे नयने अवलोकय ॥६०॥

अथवा हे माता! अमृत-रस के सार से बने हुए चन्द्रमारूप अपने मुख में आकाश के समान नीले दो कमलदल को या हे श्रेष्ठ सुन्दरि! अपने दोनों नेत्र रूपी चञ्चल दो मछलियों को दिखला दो ॥६०॥

विततनागफणावृतचन्द्रमश्शकलसंस्थितबालरविर्यथा।
भृकुटिमध्यगतं तिलकं शुभे! सुरुचिकुङ्कुमजं प्रसमीक्षय ॥६१॥

'हे सुन्दर रूप धारण करने वाली माता! दोनों भृकुटियों के मध्य में फण फैलाए हुए काले नाग से आवृत अर्द्धचन्द्रमा में लगा हुआ बाल सूर्य के समान लाल एवं सुन्दर चमकीला कुंकुम-तिलक दिखला दीजिए ॥६१॥

वदनचन्द्रसुधारसनोत्सुकस्तम इवोपगतो ग्रहतां गतः।
कुटिलकुंतलकं रवियोगतोऽनिकटमागतमाशु विलोक्य ताम् ॥६२॥

'हे माता! उपग्रह राहुरूप तुम्हारे घुंघराले बाल तुम्हारे चन्द्रमारूपी मुख का अमृत पान करने के लिए उत्सुक होने पर भी लाल बिन्दीरूपी सूर्य के निकट में नहीं आया हुआ दिखला दिया जाय। (सूर्यरूपी लाल बिन्दी के निकट बालरूपी अन्धकार कैसे आ सकता है? इसलिए अर्द्धचन्द्राकार ललाट के पीछे ही वह बाल लटका रह गया) ॥६२॥

वरतरेण करेण वरं परं परतरेण च तेन तथाऽभयम्।
प्रददती दधती स्मितशोभितं वदनपङ्कजमक्षियुगे भव ॥६३॥

'एक श्रेष्ठ हाथ से उत्तम वरदान और दूसरे हाथ से अभय देती हुई तथा मुस्कुराहट से सुशोभित मुखकमल और दो आँखें धारण की हुई बन जाओ' ॥६३॥

इति मुनिगणसंस्तुता प्रसन्ना सपदि विहाय निजं स्वरूपमुग्रम्।
सकलजनमनोऽनुकूलमन्यत्सुभगतमं दधती विलोकिताऽभूत् ॥६४॥

इस प्रकार मुनियों के द्वारा स्तुति की जाने पर प्रसन्न हो कर जगदम्बा ने अपने भयंकर रूप को हटा कर सभी लोगों के मन के अनुकूल दूसरा ही सुन्दर रूप धारण की हुई शीघ्र ही दीख पड़ने लगी ॥६४॥

वितीर्य तेषां हृदयानुरूपं वरं जगन्मङ्गलकारणं सा ।
पुनः समाश्वास्य च विघ्ननाशं विधातुमग्रेन्तरिता बभूव ॥६५॥

संसार में मङ्गल करने वाली वह जगदम्बा सभी लोगों को हृदयानुकूल वरदान दे कर और बाद में भी विघ्नविनाश के लिए आश्वासन दे कर अन्तर्ध्यान हो गईं ॥६५॥

इति श्रीदेवीचरिते महाकाव्ये भीमादेवीप्रादुर्भावो नाम सप्तदशः सर्गः ।

'श्रीदेवीचरित महाकाव्य में भीमा देवी का प्रादुर्भाव नामक सत्रहवाँ सर्ग समाप्त ।

अष्टादशः सर्गः

सुखेन काले विगते महात्मनां क्रियाकलापे विततेऽघनाशने ।
जगत्त्रये शान्तिरवानुराविते बभूव कश्चिद्दनुजाधिपो महान् ॥१॥

महात्माओं का समय सुख से बीतने लगा, दोष (पाप) नाशक कार्य (यज्ञादि) होने लगे और तीनों लोकों में शान्ति की ध्वनि गूँज उठी । इसी बीच दैत्यों का एक राजा प्रकट हुआ ॥१॥

स कृष्णवर्णोप्यरुणाभिधोऽभवद्बलान्वितश्चाप्यबलान्वितः सदा ।
महाग्रहश्चाप्यमहाग्रहो दृढ़ः कुविग्रहश्चापि सुविग्रहश्छली ॥२॥

वह दैत्य काला था किन्तु उसका नाम था अरुण, बलयुक्त होने पर भी वह सदा अबलाओं के साथ रहता था, वह था महान् आग्रही किन्तु बड़े-बड़े लोग उसे पकड़ नहीं पाते थे और कुरूप होने पर भी बड़ा विरोधी, छली एवं अपने काम में दृढ़ रहने वाला था (इसमें विरोधाभास अलङ्कार के कारण और भी अर्थ हैं) ॥२॥

यदा जनुस्तस्य बभूव भूतले समैन्धताग्निर्वितते महाध्वरे ।
ववौ न वायुः सुखदः शरीरिणां घनावृतं खञ्च धरा सकम्पना ॥३॥

पृथ्वी पर उसका जन्म होते ही विस्तृत यज्ञ में अग्नि प्रज्वलित नहीं होने लगी, आकाश बादल से घिरा हुआ रहने लगा और बार-बार भूकम्प होने लगा ॥३॥

दधुर्न तोयानि सरोरुहश्रियं बभुर्न वल्ल्यः सुमनोभिरञ्चिताः ।
अनोकहाश्चापि फलानि नो ददुर्न शस्यसम्पत्सुभगा वसुन्धरा ॥४॥

कमल की शोभा से जल सुशोभित नहीं होने लगा, लताएँ फूलों से सुसज्जित नहीं हुईं, वृक्ष भी फल नहीं देने लगे और पृथ्वी अन्न के पौधों से सजी-धजी नहीं दीख पड़ी ॥४॥

हरिद्गणोऽभूद्धरिदम्बरो नहि पतत्रिसंघो न कलस्वनस्तदा ।
मृगा विचेरुर्न वने यदृच्छया समं हतोत्साहमभूज्जगत्त्रयम् ॥५॥

उस समय पृथ्वी हरा वस्त्र नहीं धारण करती थी, पक्षीगण कलरव नहीं करते थे, मृग सब वन में अपनी इच्छानुसार नहीं विचरते थे और तीनों लोक एकाएक उत्साह रहित हो गये ॥५॥

न रेजुरच्छे गगने सुतारका न शर्वरीशो ललनाननोपमः ।
रविर्निजैर्नैव करैः समग्रकैः सुकुङ्कुमाक्तं विदधे दिशामुखम् ॥६॥

स्वच्छ आकाश में तारे नहीं चमकने लगे, चन्द्रमा स्त्रियों के मुख का उपमान नहीं रह गया और सूर्य पूर्व दिशारूपी स्त्री के मुख को अपने पूर्ण अरुण करों से रंगीन नहीं बनाने लगा ॥६॥

मनो न कस्यापि मनस्विनोऽभवत्प्रमोदसत्पूरसुपूरितं तदा ।
समस्तमस्वस्थमभूदिदं जगज्जनुर्भवन्नैव शिवाय तादृशाम् ॥७॥

उस समय किसी भी अच्छे आदमी का मन आनन्द की सुन्दर तरङ्गों से पूर्ण नहीं होने लगा, यह सारा संसार स्वस्थ नहीं रह गया और लोक-कल्याण के लिए अच्छे-अच्छे लोगों का जन्म नहीं होने लगा ॥७॥

शिशुः स सार्धं स्ववयस्यबालकैर्गतो विहर्तुं कुहचिद्यदृच्छया ।
विपत्तिरेतेष्वलमागता ध्रुवं यतोऽदयं ताडयतेस्म तान् बलात् ॥८॥

जब वह (दैत्य) बालक था और अपनी उम्र वाले बालकों के साथ इच्छानुसार कहीं खेलने के लिए निकल जाता था तब उन बालकों के ऊपर विपत्ति आना निश्चित हो जाता था। क्योंकि अपनी ताक़त भर उन लड़कों को निर्दयता पूर्वक खूब पीटता था ॥८॥

यदा भवेद्वाहकवाह्यलक्षणे सुकेलिकृत्ये कतमोपि तस्करः ।
प्रसह्य तत्पृष्ठमधिष्ठितो ह्यसावनन्तिकं स्वं नयते स्म वेगतः ॥९॥

जब कभी लड़कों के साथ पीठ पर लाद कर कुछ सीमित दूर तक पहुँचाने वाले खेल में यदि कोई लड़का चोर बन जाता था तब उसकी पीठ पर चढ़ कर वह बहुत दूर तक और बहुत वेग से उसे घुमा कर परेशान कर देता था ॥९॥

यदा वहन्छ्रान्तिमुपाव्रजेदसौ न गन्तुमग्रे शिथिलश्च पारयेत् ।
नितान्तमुत्प्लुत्य निपीडयन्नमुं ततोप्यसक्तं विजहौ प्रहृत्य तम् ॥१०॥

यदि वह लड़का अपनी पीठ पर उसे ढोते-ढोते थक जाता था और आगे बढ़ने में बिल्कुल असमर्थ हो जाता था तो उसकी पीठ पर वह खूब उछलता था और अन्त में उसे बहुत पीट-पाट कर छोड़ देता था ॥१०॥

विधातुमेकेन यदैकपादिकां प्रवर्तमानो भवति स्म कुत्रचित् ।
छलेन यद्वा बलतो विजित्य तं करं सुलोष्ठेन परं न्यवीव्यथत् ॥११॥

यदि कहीं पर किसी के साथ एक पैर से गुड़क कर चलने वाले खेल में वह छल या बल से उसे हरा देता था तो खूब मजबूत ढेले से उसके हाथ को चूर देता था ॥११॥

यदान्धदृष्टित्वविहारतत्परेष्ववेक्षते स्मान्यतमं च तस्करम् ।
शपन्तमक्षिस्रवदस्रधारकं मुमोच तं ताडनतो न वेगतः ॥१२॥

यदि कभी आँखमिचौनी के खेल में अनेकों के बीच किसी एक लड़के को चोर (हारा हुआ) देख लेता था तो उसके कोशने पर अथवा उसकी आँखों से आँसुओं की धारा चलने पर भी वह (दैत्य) उसे जोरों से पीटता जाता था और उसे जल्दी नहीं छोड़ता था ॥१२॥

करौ च कस्याप्यपरस्य जानुनी शिरोधरं चापि कटिं च कस्यचित् ।
अकारणं कारणमाप्य किञ्चन न्यवक्रयन्निर्दयतामुपागतः ॥१३॥

अकारण कोई बहाना बना कर वह खेल में जुटे हुए लड़कों में से किसी के हाथ, किसी के ठेहुना, किसी की कमर, किसी की गला निर्दयता पूर्वक मरोड़ डालता था ॥१३॥

कदाप्युपालब्धुमना मनाग्गृहे प्रयाति तस्य स्म कुतोपि कश्चन ।
अरण्यगीतं भवति स्म तस्य तत्पशुर्यथा तेन स एव ताडितः ॥१४॥

यदि कभी कोई उलाहना देने के लिए उसके घर पर चला जाता था तो उसका कहना अरण्य-गीत बन जाता था और उसे जानवर के जैसा डण्डे से पीटा जाता था ॥१४॥

भवन्ति ये स्मातिसमा बलाबलैः परां मुदं तैर्लभते स्म सर्वदा ।
समन्वितश्चापि गतो घनं वनं वनालयं सिंहशिशुं समग्रहीत् ॥१५॥

जो लोग बलाबल में उसके समान थे उनसे वह बराबर प्रसन्न रहता था। उन सब के साथ घने जंगल में जाता था और उस (जंगल) में रहने वाले शेर के बच्चे को पकड़ता था ॥१५॥

दृढं विधातुं वपुरात्मनोऽधिकं वयस्यवर्गैः सबलैर्बलान्वितैः ।
चकार सद्व्यायमनं तदालयें ध्रुवं तदेतेन तथैव जायते ॥१६॥

वह दानव जब बालपन की अवस्था पार कर गया तब अत्यन्त बलवान् मित्रमण्डल के साथ अपने शरीर को अत्यन्त दृढ़ बनाने के लिए व्यायाम करता था। व्यायाम करने से शरीर मजबूत होता ही है ॥१६॥

अधोमुखः पाणितलं भुवस्तले निधाय पादाङ्गुलिमात्रभूस्थितिः ।
विनम्य चोत्तानतरं निजाङ्गकं परं पुरस्तात्कुरुते स्म तत्क्षणम् ॥१७॥

औंधे मुँह हो कर, करतलों को भूमि पर रख कर और पैर की अंगुलियों को भूमिस्थ करके सम्पूर्ण शरीर को ऊपर की ओर उठा-उठा कर वह व्यायाम (अर्थात् दण्ड) करता था ॥१७॥

दृढं पदद्वन्द्वतलं च भूतले निधाय मुष्ठी च विधाय सम्मुखे ।
चकार चोत्थानमवस्थितिं रयात्कदापि हस्तञ्च भुवं पदाक्रमत् ॥१८॥

कभी पैर के दोनों तलवों को भूमि पर अड़ा कर और दृढ़ मुट्ठी बँधे हुए हाथों को सामने करके वह उठ-बैठ करता था और कभी जमीन पर उछल पड़ता था ॥१८॥

नियम्य निश्वासमसौ शतं शतं सहस्रकं चापि विधाय तद्वयम् ।
श्रमं प्रयाति स्म न जातु किञ्चन जितश्रमः साधु फलं समश्नुते ॥१९॥

वह दानव श्वास रोक कर सैकड़ों-हजारों तक भी दण्ड-बैठक कर कभी थकता नहीं था । जो बहुत श्रम करने पर भी थकान का अनुभव नहीं करता है, वही जीवन में अच्छा फल प्राप्त करता है ॥१९॥

ललाटदेशे भुजयोश्च वक्षसि प्रशस्तधूलीमनुलिप्य सादरम् ।
करद्वयेनोरुयुगं भुजद्वयं भृशं समास्पोट्यते स्म संस्थितः ॥२०॥

कभी (अखाड़े में) बैठ कर दोनों हाथों से अच्छी धूली ललाट में, दोनों भुजाओं में, छाती पर, दोनों जाँघों में, ठेहुना में लपेट कर खूब ठोकता था ॥२०॥

कदापि कस्यापि पदं करं गलं कटिं भुजं कस्य च नापरस्य च ।
क्रमात्समादाय समाचकर्ष च निपातयामास च तान् महीतले ॥२१॥

कभी किसी का पैर, किसी का हाथ, किसी की गला, किसी की कमर, किसी की बाँह पकड़ कर खींच लेता और जमीन पर गिरा देता था ॥ २१॥

गदाद्वयं पाणियुगेन सद्‌गुरु सुचालयँश्चक्रवदूर्ध्वमप्यधः ।
पुरश्च पश्चाच्छिरसस्तथोपरि स्थितश्चिरं नैव पदं ततोऽचलत् ॥२२॥

कभी दोनों हाथों में दो भारी गदाओं (मुद्‌गलों) को पकड़ कर उन्हें ऊपर-नीचे, आगे-पीछे भाँजता था तथा उन्हें छोर पर पकड़ कर या ऊपर फेंक कर भी चक्र के ऐसा घुमाता हुआ बहुत देर तक डटा रहता था । एक डेग भी इधर-उधर नहीं होता था ॥२२॥

पदं पुरस्ताच्च निधाय वामकं परं परस्ताच्च समाहितः स्थितः ।
क्रमेण तेनैव करद्वयेन स गुरुं गृहीत्वा लगुडं न्यविभ्रमत् ॥२३॥

कभी बाएँ पैर को आगे और कभी दाएँ को आगे कर जमीन पर जमा कर सावधानी के साथ पैर ही के क्रम से दोनों हाथों से भारी लाठी को पकड़ कर घुमाता था ॥२३॥

असिं समादाय शितं चमत्कृतं बृहत्तथा चर्म करद्वयेन सः ।
गतागतं दक्षिणवामतः क्रमाद्विधाय सम्यक् सुतरामचीचलत् ॥२४॥

कभी एक हाथ में खूब तेज, चमकीली और लम्बी तलवार तथा दूसरे में ढाल ले कर क्रम से दाएँ-बाएँ और बाएँ-दाएँ पैंतरा करके उन्हें खूब घुमाता ॥२४॥

शिताग्रकुन्तं मुशलञ्च पट्टिशं त्रिशूलमुग्रं वरशक्तिकामपि ।
यथाक्रमं प्रेरयितुं प्रयत्नतो नितान्तमभ्यासपरायणोऽभवत् ॥२५॥

कभी तेज और नुकीला भाला, मूसल, पट्टा, त्रिशूल, शक्ति क्रम से यत्न-पूर्वक चलाने का अत्यन्त अभ्यास करता था ॥२५॥

दृढं धनुर्दण्डमदक्षिणेन च प्रसारितेनाथ शयेन सन्दधत् ।
परेण कर्षन्निहितोग्रशायकां कृतेक्षणो ज्यामधिलक्ष्यमास्थितः ॥२६॥

कभी बाएँ हाथ से मजबूती के साथ पकड़े हुए धनुर्दण्ड को फैलाते हुए और उसके रोदे पर भयंकर बाण को रख कर, लक्ष्य की ओर देखता हुआ, दायें हाथ से खींच कर खड़ा हो जाता था ॥२६॥

समस्तमेतत्सुतरां गृहीतवान् सुसेवितात्सद्गुरुपुङ्गवादसौ ।
सदातनाभ्यासवशेन तत्क्षणं बभूव लोकेऽप्रतिमो धराग्रणीः ॥२७॥

इस प्रकार वह दैत्य सुसेवित अच्छे-अच्छे गुरुओं से सारी युद्ध-कलाओं को सीख कर और बराबर उनका अभ्यास कर उस समय संसार में अद्वितीय वीर बन गया ॥२७॥

यदाऽतुलं कुत्रचनोपजायते बलं न तद्रोद्धुमलं भवत्यसौ ।
न पीडयत्येव परप्रपीडकान् सतोपि दीनानबलांश्च सर्वदा ॥२८॥

जब भी उसने कहीं पर अपने समान बल को पाया और अपने बल को रोकने में समर्थ नहीं हो सका, तब केवल दूसरों को ही कष्ट पहुँचाने वालों को नहीं, बल्कि निर्बल-दीन सज्जनों को भी, सदा सताने लगा ॥२८॥

अत्युद्भटोसौ स्वबलातिदुर्मदो भुवं समस्तां जितवान्नृपान् सतः ।
तदिच्छया ताँश्चरतोपि चानिशं ददर्श नो सौम्यदशा कदाचन ॥२९॥

अपने बल के कारण अत्यन्त मदान्ध तथा उद्भट उस दैत्य (अरुण) ने पृथ्वी पर के सारे सज्जन राजाओं को जीत लिया। उसकी इच्छा से ही सदा चलते रहने पर भी उन्हें वह सौम्य दृष्टि से कभी नहीं देखता था ॥२९॥

प्रसादनायास्य गृहेषु सञ्चिताः समर्पयामासुरिमे स्वसम्पदः ।
तथा च तं कर्तुमलं न तादृशं कथं दुरात्मा विनयेन शाम्यतु ॥३०॥

उन लोगों ने उसे प्रसन्न करने के लिए घर में सञ्चित सारी सम्पदाओं को उसे सौंप डाला, परन्तु दुरात्मा नम्रता से कैसे शान्त हो सकता था ? ॥३०॥

किमेष धूमः प्रसृतो नभस्तले ?
विनाग्निनाऽसौ क्व च सोपि न क्वचित् ।
ध्रुवं स नीहारचयो समागतो
दिनार्धके तस्य च नैव सम्भवः ॥४४॥

क्या आकाश में तमाम धूआँ फैल गया ? किन्तु धूआँ तो विना आग के कहीं रहता नहीं । जान पड़ता है कि यह कुहरा फैल गया है, परन्तु दो पहर में तो उसका होना भी असम्भव है ॥४४॥

निशेति किं ? नास्तमितोऽधुना रविर्न चोपरागोस्ति ? कुहूयतो न हि ।
न मेघमाला सहसेयमागता किमेतदित्थं ? विविचुर्जना मुहुः ॥४५॥

क्या रात आ गई ? अभी तक तो सूर्य अस्त ही नहीं हुए हैं । क्या खग्रास ग्रहण लग गया है ? परन्तु आज तो अमावास्या तिथि नहीं है । घटा भी तो एकाएक इतने जोरों से नहीं आ जाती है । तो यह है क्या ? इस प्रकार लोग बार-बार विवेचना करने लगे ॥४५॥

उपस्थितान् सर्वजनान् भ्रमे स्थितान्
विलोकयन्तो घनचिन्तयाकुलान् ।
न विघ्नितांस्ते विदधुः कथञ्चन
शिवास्वरूपाः शिवकारिणः सताम् ॥४६॥

सज्जनों के कल्याण करने वाले शिवा-स्वरूप उन भौंरों ने एकत्र हो कर भ्रम में खड़े अत्यन्त चिन्तित दीखते हुए उन्हें किसी प्रकार से विघ्न नहीं पहुंचाया ॥४६॥

यदीप्सितव्यं खलु यस्य कस्यचित्तदभ्युपेतुं यतते स सर्वथा ।
विहाय तारावलयं विधुन्तुदो ग्रसत्यसौ चन्द्रमसं प्रधानतः ॥४७॥

जिसका जो कुछ अभीष्ट रहता है वह उसे ही पाने के लिए सदा यत्न करता है । राहु तारामण्डल को छोड़ कर यत्नपूर्वक चन्द्रमा को ही ग्रसता है ॥४७॥

परिभ्रमन्तो भ्रमरा बृहत्तरा भ्रमं न चक्रुः कुहचित्सतां गणे ।
उपाययुस्ते निजलक्ष्यसंश्रये दिशोऽखिलास्तत्र रवैरपूरयन् ॥४८॥

बड़े-बड़े वे भ्रमर (भ्रम देने वाले) तमाम घूमते हुए भी सज्जनों के समूह में (जहां भ्रम हो रहा था) अब भ्रमण नहीं करने लगे । अपने लक्ष्य-केन्द्र पर पहुँच कर उन लोगों ने अपने झंकार से सभी दिशाओं को भर दिया ॥४८॥

यदा व्यमृश्यन्न किमेतदित्यहो सुरारयस्ते तु तदैव षट्पदाः ।
समन्ततस्तत्तनु संस्थिता मुहुः शिताग्रतुण्डैर्नितरामविव्यथन् ॥४९॥

वे देवशत्रु जब तक यह भी निश्चित नहीं कर सके थे कि यह क्या है, तब तक वे भौंरे उनके समस्त शरीर पर बैठ गये और अपने तीखे सूंगों से उन्हें पीड़ित करने लगे ॥४९॥

करैर्निजैस्तांस्तनुसंस्थितानलीन् पृथग्विधातुं नितरां प्रपेदिरे ।
तथाविधान्नादशकन्न ते यदा कराङ्घ्रिकं केवलमेव चिक्षिपुः ॥५०॥

वे (दानव) अपने शरीर पर बैठे हुए भौंरों को हाथों से अलग भी न कर पाये थे कि भौंरे जोरों से वे उन्हें ऐसा काटने लगे कि वे लोग केवल अपना हाथ-पैर फेंक कर छटपटाने लगे ॥५०॥

अहो किमेतत् ! कुत आपदागता कथं भवेत्त्राणमितोऽधुना च नः ।
विमर्ष एष स्फुरितः कथञ्चन तदुग्रदंशैर्मुहुर्मुहुश्च ते ॥५१॥

'ओह ! यह क्या हो गया ? हमलोगों को यह आपत्ति कहाँ से आ गई ? इस समय कैसे इससे रक्षा होगी ?'—यह विचार जब तक किसी प्रकार स्थिर भी नहीं हो पाया था कि उन भौंरों के डँसने से वे लोग बेहोश होने लगे ॥५१॥

बृहत्तराक्षौद्रसमानकान्तयो बभूवुरेते स्थितषट्पदव्रजाः ।
सुरारिदेहाद्रुधिरं मधूपमं स्रुतं समन्तात्पतिताश्च तं भुवि ॥५२॥

उनके शरीर पर बैठे हुए बड़े-बड़े भौंरे कुछ मटियाले रंग की तरह लाल हो गये । उनके शरीर से मधु के समान रक्त निकल पड़ा और वे दैत्य जमीन पर गिर गये ॥५ ॥

बभूवुरेते व्यसवो न यावता जहुर्न तेप्युल्वणतुण्डकुट्टनम् ।
नितान्तमुत्क्षिप्य करं पदं शिरो धरातलेऽशेरत दानवाश्चिरम् ॥५३॥

दैत्य लोग जब तक प्राणरहित न हुए तब तक उन भौंरों ने तीखे सूंगों से नोचना नहीं छोड़ा । अन्त में दानव लोग धरातल पर हाथ, पैर, सिर पटक कर बराबर के लिए सो गये ॥५३॥

तदाऽभवत्तन्म्रियमाणदानवप्रयुक्तचीत्कारसमन्वितो महान् ।
जयेति पाहीति शिवेऽम्बिके ! जगत्स्वनः सतां रक्षणमिच्छतां ततः ॥५४॥

मरते हुए उन दानवों की चिल्लाहट के साथ ही जगत् की रक्षा चाहने वाले सज्जनों के ये महान् शब्द हुए, "हे कल्याणकारिणी माता ! जय हो, जगत् की रक्षा करो" ॥५४॥

जगद्द्रुहस्तानवलोक्य षट्पदा निजार्जिताकर्महतान् द्विषोऽखिलान् ।
ततः स्वनन्तोऽम्बरमाश्रिता ययुः शिलोच्चयं कञ्चन तुङ्गशृङ्गकम् ॥५५॥

भौंरों ने जब देखा कि संसार के द्रोही सब अपने किये कुकर्मों के कारण नष्ट हो चुके हैं, तब वे जोरों से गुंजार करते हुए आकाश में जा कर स्वर्णिम हिमालय के उच्च शिखर पर विलीन हो गये ॥५५॥

यस्मिन् विशालशिखरे घनकाननेऽसौ भीमातिभीमवनजन्तुसमूहसेव्ये ।
याता निवासकरणाय षडङ्घ्रिरूपा देवी स भूभृदधुनापि तथैव भाति ॥५६॥

भ्रामरीरूपा देवी वनजन्तुओं से सेवित घने जंगल और विशाल शिखर वाले जिस हिमालय के उच्च शिखर पर निवास करने के लिए गईं, वह हिमालय अभी भी वैसा ही सुशोभित है ॥५६॥

निर्मीति तत्र जननीप्रतिमां जनौघो दुर्गेऽपि भक्तिपरमोऽर्चति साधु गत्वा ।
यज्जायते किमपि दूषणमत्र कुध्रे तूर्णं बृहद्भ्रमरपंक्तिरितो निरेति ॥५७॥

लोग उस दुर्गम स्थान पर भी जा कर भक्ति में लीन हो माता की प्रतिमा बना कर भली-भाँति पूजा करते हैं और उस पहाड़ पर यदि कोई दोष पैदा हो जाता है तो अभी भी भौंरों का झुण्ड निकल पड़ता है ॥५७॥

इत्थं जनाः कुहचनात्महिताय देवी-
मर्चन्ति साधु करुणापरमां मनोज्ञाम् ।
ध्यायन्ति वाऽथ प्रणमन्ति मनुं जपन्ति
तेषु प्रसीदति शिवा सकलेष्टदात्री ॥५८॥

इस प्रकार यदि लोग कहीं भी अपने हित के लिए उस करुणामयी, अन्तर्यामी, सौम्य शिवा की भली-भाँति पूजा करते हैं, उसका ध्यान करते हैं, उसे प्रणाम करते हैं या उसके मन्त्र का जप करते हैं, तो सम्पूर्ण अभीष्ट फल को देने वाली वह देवी उन लोगों पर प्रसन्न हो जाती हैं ॥५८॥

अतः सर्वैर्यथाशक्ति यथा विधि जगन्मयी ।
समाराध्या प्रयत्नेन जनुः साफल्यहेतवे ॥५९॥

अतः सबको चाहिए कि जीवन को सफल बनाने के लिए शक्ति और विधि के अनुकूल जगन्मयी भगवती की आराधना यत्न पूर्वक करें ॥५९॥

इति श्रीदेवीचरिते महाकाव्ये भ्रामरीप्रादुर्भावो नामाष्टादशः सर्गः ।

'श्रीदेवीचरित महाकाव्य' में भ्रामरी देवी का प्रादुर्भाव नामक अट्ठारहवाँ सर्ग समाप्त ।

एकोनविंशतिः सर्गः

मुक्तापदां दनुजवंशविनाशनेन तत्त्रासतो विपुलतापभृतां जनानाम् ।
सर्वेष्टदातृजगदम्बिकया सुखाय सम्प्रेषितो नु परितः सकलर्तुसङ्घः ॥ १ ॥

दानवों के भय से अत्यन्त सन्तप्त, परन्तु उनके विनाश से आपत्तिरहित, लोगों के आनन्द के लिए सकलेष्टदात्री जगदम्बा ने सर्वत्र सभी ऋतुओं को भेज दिया ॥१॥

ते चापि यन्न सुचिरं कुसुमावलीनां
शोभां दधुः सुजनदुःखमिवादधानाः ।
तत्सम्प्रमोदमुदिता इव रम्यपुष्पै-
रात्मानमाशिखगलं विदधुस्त्रिलोक्याम् ॥२॥

उन ऋतुओं ने भी सज्जनों के दुःख को अपना दुःख समझ कर बहुत काल से फूलों का शृङ्गार नहीं किया था, किन्तु अब उनके आनन्द से आनन्दित हुई-सी सुन्दर फूलों से सिर से पैर तक अपने को तीनों लोकों में सजा डाला ॥२॥

यद्वा सतां सुखनिरीक्षणतः प्रमोदाँस्तद्दुःखदुःखिततमानवलोक्य ताँश्च ।
पुष्पैः समर्चयदलं विविधैर्नु कश्चित्, सम्पूज्यते जगति सत्सुधृतादरो हि ॥३॥

अथवा सज्जनों के दुःख से पहले दुःखी, किन्तु अब उनके सुख से प्रसन्नचित्त हो कर कुछ लोगों ने अनेक प्रकार के फूलों से उनकी विविध प्रकार से पूजा कर दी हो । क्योंकि संसार में वही पूजा जाता है जो सज्जनों के प्रति आदर रखता है ॥३॥

वल्ल्यः पुरा न कुसुमाभरणं दधाना
यद्वारुणान् किशलयान् वसनं वसानाः ।
सद्गुच्छकस्तनभरातिनता मनोज्ञा-
नालिल्यिरे तरुवरानधुना तु सम्यक् ॥४॥

अथवा नवीन पल्लवरूपी लाल वस्त्र एवं फूलों का आभूषण धारण कर सुन्दर गुच्छरूपी स्तनों के भार से विनम्र जिन लताओं ने अपने अनुकूल वृक्षों को पहले आलिङ्गित नहीं किया था उन सब ने अब उन्हें भली-भाँति आलिङ्गित कर लिया ॥४॥

वृक्षा अपि प्रमुदितानतबाहुशाखा दृष्ट्वा लताः प्रियतमा इव कम्पिताङ्गी ।
सद्वस्त्रभूषणविभूषितरम्यरम्या आलिलियिरे भ्रमरहुङ्कृतिरम्यवाचः ॥५॥

वृक्षरूपी नायक ने भी अच्छे वस्त्रों एवं भूषणों से सज-धज कर अत्यन्त रमणीय बन अपने मुख से भौंरों के हुंकाररूपी अव्यक्त हुंकार निकालता हुआ अत्यन्त आनन्द से शाखारूपी अपने बाहुओं को फैला कर लतारूपी कम्पिताङ्गी प्रियतमाओं को आलिङ्गित किया ॥५॥

प्रादुर्बभूव प्रथमं सकलर्तुराजस्तं सेवितुं नु परतोप्यपरे क्रमेण ।
आदाय पुष्पनिवहं तदुपायनार्हं स्वं स्वं स्वरूपमभितः प्रथितं व्यधुस्ते ॥६॥

पहले ऋतुओं का राजा (वसन्त) प्रकट हुआ । उसके बाद उसकी सेवा में क्रमशः और सब ऋतुओं ने भी सभी ओर से अपने राजा के उपहार-योग्य फूलों को ला कर अपने-अपने स्वरूप को प्रकट किया ।।६॥

आम्रप्रसूनमुकुटोऽमलचन्द्रवक्त्रः कञ्जेक्षणोऽरुणदलाधरबिम्बशोभः ।
पुंस्कोकिलध्वनिवचा मलयोत्थवातश्वासः स्फुटारुणसरोरुहपाणिपादः ॥७॥
सन्मञ्जरीकनकसूत्रजपुष्परम्यपर्णोत्तरीयवसनो विमलप्रकाशः ।
वासन्तिकस्फुटितकौसुमधौतवासाः संलक्षितो भुवि मधुर्मधुपालियष्टिः ॥८॥

(वसन्त के स्वरूप का वर्णन युग्मक में है ।) आम के पुष्परूपी मुकुट, स्वच्छ चन्द्रमारूपी मुख, कमलरूपी विकसित नेत्र, नये एवं लाल पत्तेरूपी ओठ, नर कोयल की ध्वनिरूपी बोली, मलयवायुरूप श्वास, विकसित लाल कमलरूपी हाथ-पैर, सुन्दर मञ्जरीरूपी स्वर्णिम तार से बने फूल के काम किये हुए हरे और लाल पत्तेरूपी मखमली वस्त्र, प्रकाशरूपी प्रताप, वसंती रंग के पुष्पित गेंदा, गुलदावदी आदि पुष्परूपी पीताम्बर, भौंरों की पंक्तिरूपी छड़ी धारण कर ऋतुराज राजवेश में प्रकट हो गया ॥७,८॥

रम्ये तदीयमुकुटे कनकोज्ज्वलाभे
भृङ्गाः स्थिताः शुशुभिरेऽसितरत्नतुल्याः ।
किञ्जल्कशीकरचया वरमौक्तिकानि
किं तद्भवेन्मदकरं न शिरःस्थितं यत् ॥९॥

उसके सुन्दर सुनहले रंग के मुकुट पर बैठे हुए भौंरे वैसे शोभ रहे थे जैसे मुकुट में नीलमणि जड़े हुए हों, और फूलों के रस-बिन्दु वैसे चमक रहे थे जैसे उस पर मोती जड़े हुए हों । ऐसा मुकुट धारण कर वह (ऋतुराज) नशा पैदा करने वाला क्यों नहीं हो ? ॥९॥

बाणान् प्रियान् स्वसुहृदो मदनस्य मुख्यान्
रम्याणि चूतकुसुमानि रसायनानि ।
किन्नो दधातु शिरसा प्रियमित्रमस्या-
दर्तव्यमेव सकलं प्रियमेतदीयम् ॥१०॥

वसन्त अपने प्रिय मित्र कामदेव के मुख्य तथा सुन्दर रस भरे हुए आम के पुष्परूपी बाण को क्यों नहीं अपने सिर पर धारण करे ? सभी लोगों को चाहिए कि अपने मित्र की प्रिय वस्तु को ऐसा ही आदर दें ॥१०॥

यस्मिन् क्षणे गमयतः समयं कथञ्चिद्
यत्र क्वचित्प्रणयिनो भ्रमरान् रसालाः ।
आमन्त्रयन् करगृहीतमधुप्रसूना-
स्तस्मिन् प्रमत्तमभवद्भुवनं समस्तम् ॥११॥

आम के वृक्ष अनुरागी भौंरों को अन्य समय में इधर-उधर भटकते और किसी प्रकार समय व्यतीत करते देख जिस वसन्त के समय में मधुपूर्ण फूलों को हाथ में ले कर आमन्त्रित करने लगे उस समय सारा विश्व मतवाला हो गया ॥११॥

चन्द्राननाः खरतरं रविरश्मिजालं
क्षन्तुं क्षमा न नितरामभवन् दिवा यत् ।
एकान्तकान्तवरसङ्गमसौख्यदायं
सायं नितान्तमजपन् विविधाभ्युपायम् ॥१२॥

चन्द्रमुखी स्त्रियाँ दिन में तीखे सूर्य-किरणों को जब सहन करने में समर्थ नहीं हो सकीं तो एकान्त में स्वामी के मिलन का सुख देने वाली सन्ध्या को दिन भर अनेक उपाय से जपती रहीं ॥१२॥

दूत्यादयोऽन्यसमये विविधैर्वचोभिः
संरञ्जयन्तु रसिकान् रसिकाश्च कामम् ।
कामाज्ञया परभृता परितोऽत्र काले
वाङ्माधुरीभिरसकृद्रमयन्ति कान्तान् ॥१३॥

श्रृङ्गार रस में नायक-नायिका के सहायक दूती आदि दूसरे समय में भले ही रसिक और रसिकाओं को विविध वचनों से मनोरञ्जित करते रहे हों, परन्तु इस समय तो कोयल ही कामदेव की आज्ञा से चारों ओर वाङ्माधुरी से दोनों को बराबर एक दूसरे के पास पहुँचाने लगी ॥१३॥

नैराश्यमन्यसमये दधुरर्थिनोपि मानापनोदनविधौ वरकामिनीनाम् ।
ते साम्प्रतं मधुमहे गृहदेहलीतः सश्लेषमाभिरधिगर्भगृहं हि नीताः ॥१४॥

अन्य समय नायक मानिनी नायिका के मान को दूर करने के लिए अनेक प्रकार से चाहते हुए निराश हो जाते थे, परन्तु इस वसन्तोत्सव में तो उन नायिकाओं द्वारा वासघर के दरवाजे से ही उनके द्वारा आलिङ्गित हो कर घर के भीतर ले जाये जाने लगे ॥१४॥

नैतत्कथं भवतु पञ्चशरोऽधुनेह भस्मेव कौसुमरजो न्वभिमन्त्रितं यत् ।
उच्चैर्द्विजोच्चरितरम्यरवैः समन्तात्सम्मोहनैरुत वशीकरणैस्तनोति ॥१५॥

वसन्त ऋतु में यह सब क्यों नहीं हो ? पञ्चवाण ने इस समय पक्षियों के शब्दरूपी मोहन या वशीकरण मन्त्र से अभिमन्त्रित फूलों के परागरूपी भस्म को चारों ओर छींट दिया है ॥१५॥

कृष्णो द्विजो भवति कर्कशहृन्नितान्तं नो प्रत्ययः कथमपीह जनैर्विधेयः ।
सामुद्रिकागमवचो न समर्थयन्तः सन्तोष्टुमुद्यततमाः पथिकान् पिकौघाः ।१६।

काला ब्राह्मण या पक्षी अत्यन्त कठोर हृदय का होता है । इस पर लोगों को किसी प्रकार विश्वास नहीं करना चाहिए । जान पड़ता है कि सामुद्रिक शास्त्र के इस वचन को नहीं समर्थन करते हुए कोयलसमूह परदेशियों को सन्तुष्ट करने के लिए तैयार हो गये ॥१६॥

राज्ञो मुखं विमलमीक्षितुमेव सर्वे
वाञ्छन्ति वीक्ष्य च कदापि रुषेव ताम्रम् ।
त्रस्यन्त्यथो ऋतुपतेर्वदनं निरीक्ष्य
रक्तं न बिभ्युरिह के शशिनं प्रदोषे ॥१७॥

राजा का मुख प्रसन्न देखना सब चाहते हैं, परन्तु कभी क्रोध से उसे लाल देख कर डर जाते हैं । लेकिन सायंकाल में ऋतुराज के मुखरूपी चन्द्रमा को लाल देख कर इस संसार में कोई नहीं डरता ॥१७॥

निर्लक्ष्म चन्द्रवदना यदि सानुरागा क्रोडं विभूषयति कस्यचनेह काले ।
त्रस्यत्वसौ कथमिवारुणमीक्षमाणो राजाननेन्दुमपि लक्ष्मभृतं सुभाग्यः ॥१८॥

निष्कलंक चन्द्रमुखी अनुराग भरी नायिका यदि इस समय किसी पुरुष की गोद को अलङ्कृत करे तो वह भाग्यवान पुरुष कलंकी और लाल-मुख चन्द्रमा को देखते हुए भी क्यों डरे ? ॥१८॥

ये कामिनीपदसरोरुहसम्प्रहारं
नैवान्तरा सुकलिकाभरणं दधुः प्राक्।
ते साम्प्रतं चिरनिगूढविकाशवाञ्छा-
स्तं नाभ्यपेक्ष्य परितो व्यकचन्नशोकाः ॥१९॥

जो अशोक के वृक्ष पहले सुन्दरियों के चरण-कमल के प्रहार बिना कलिका-रूपी भूषण धारण नहीं करते थे और बहुत दिनों से विकसित होने की इच्छा को छिपाए हुए थे, वे ही इस समय उसकी (सुन्दरियों के चरण प्रहार की) अपेक्षा रखे विना ही तमाम विकसित हो गये ॥१९॥

पादप्रहारमभिलष्यति योपि यस्मात्तत्पाणिपल्लवदलेन स लालितश्चेत्।
किं हर्षवर्षणममुष्य निगद्यमस्तु तच्चानुभूतमधुना सुतरामशोकैः ॥२०॥

जो व्यक्ति किसी के पाद-प्रहार को भी चाहता हो, वह यदि उसके हस्त-पल्लव के दल से लालित हो तो क्या उसके आनन्द का वर्णन किया जा सकता है? अशोकों ने इस समय वैसे आनन्द का अनुभव किया (क्योंकि इस समय सुन्दरियाँ उनके पल्लव और पुष्प को शृङ्गार करने के लिए अंगुलियों से उतारती थीं) ॥२०॥

दण्डाद् बिभेति नृपतेः सकलोपि जन्तुः
सार्वत्रिकोस्ति नियमो विदितो जगत्याम्।
तद्यष्टिरूपमधुपावलिमीक्षमाणा-
स्त्रस्यन्तु किन्न पथिका विरहाधिदूनाः ॥२१॥

राजा के दण्ड से सब लोग डरते हैं—यह नियम संसार में सर्वत्र विद्यमान है। इसलिए ऋतुराज के दण्डरूपी भौंरों की पंक्ति को देखते हुए वियोग के कष्ट से दुःखी वियोगी लोग क्यों नहीं डरते? ॥२१॥

यन्मित्रमङ्गुलिदलस्य सुसंज्ञयैव
लोकं समस्तमभिनर्तयतीह सम्यक्।
तस्यैव किन्न मदनः प्रियमित्रमक्ष्णः
सङ्केततो नटयतु प्रथितप्रभावः ॥२२॥

जिस कामदेव का मित्र वसन्त अंगुली के इशारे से सारे संसार को भली-भाँति नचा देता है, उसी वसन्त का प्रिय मित्र सुविख्यात प्रभावशाली काम आँख के इशारे से उसे क्यों नहीं नचावे? ॥२२॥

सर्वेऽप्यतो वशमुपाययुरद्य लोकाः कामस्य माधवसहायवरस्य सम्यक्।
कालं कथं कुहचनेति च सार्धमेनं व्यत्याययन्ति खलु नैव विदुः प्रमोदात् ।२३।

इसलिए सारा संसार वसन्त-सहायक कामदेव के वश में भली-भाँति हो गया। कहाँ पर किसके साथ यह समय बीत गया?—आनन्द के कारण यह नहीं पता चला (आनन्द का समय इसी तरह बीत जाता है।) ॥२३॥

क्षीणप्रभं स्वसुहृदो मुखमीक्षमाणः
कामो दिवा शिथिलतामवलम्बते वै ।
सायं प्रसन्नमवलोक्य शनैः शनैस्तु
व्याज्जृम्भते मधुमहे धृतचापबाणः ॥२४॥

कामदेव ने दिन में अपने मित्र वसन्त का कान्तिहीन मुख देखता हुआ शिथिलता धारण कर लिया था, परन्तु सायंकाल में धीरे-धीरे प्रसन्न देख धनुष-बाण धारण कर वसन्तोत्सव में आनन्दपूर्ण हो गया ॥२४॥

इत्थं समस्त भुवनं सुखितं विधाय दूरादपि प्रियगणं सह योजयित्वा ।
यावन्मधुर्न जरतामगमत्तदेव तत्पृष्ठतः शुचिरपीह समाजगाम ॥२५॥

इस प्रकार वसन्त दूरस्थ प्रिय लोगों को भी एकत्र कर सारे संसार को सुखी बना कर वह (वसन्त) बूढ़ा भी नहीं हो पाया था कि उसके पीछे ग्रीष्म भी यहाँ आ धमका ॥२५॥

प्राग्दानवेन्द्रमहसा नु तिरस्कृतोसौ तत्तापनादुत समीक्ष्य निजं च दण्डम् ।
तद्वात्मनिग्रहवशात् क्षततीक्ष्णभानुस्तीक्ष्णांशुरत्र समये न पुरोष्णभानुः ॥२६॥

जान पड़ता है कि सूय ने भी दानवेन्द्र के तेज से तिरस्कृत होने अथवा दानवेन्द्र को तप्त करने से दण्ड की आशंका या दानवेन्द्र द्वारा दण्डित होने से तीखे किरणों के नष्ट होने के कारण पहले तीव्रता धारण नहीं किया था ॥२६॥

अद्याप्यसौ चिरमनभ्यसनादृता हो तप्तेष्वनुग्रहवशाद्भुवनेषु भानुः ।
सम्पर्कतोऽथ मधुना सह वा नितान्तं नैवाददे प्रखरतां क्वचिदम्बरान्ते ॥२७॥

आज भी उस सूर्य ने बहुत दिनों से अधिक तपने का अभ्यास नहीं रहने के कारण अथवा दुष्टों से तप्त रहने वाले संसार के ऊपर अनुग्रह करके अथवा वसन्त के साथ सम्पर्क रहने के कारण कहीं भी आकाश में तीक्ष्णता धारण नहीं किया ॥२७॥

स्वातन्त्र्यमाप भुवि को न निजप्रतापं
चेत्स्यादसाविह शनैः प्रथयत्यभीक्ष्णम् ।
सूर्यः प्रतापनिधिरद्य न किं प्रतापं
स्वं सन्तनोतु शनकैरभवत्खरांशुः ॥२८॥

सूर्य ने अपने प्रताप को धीरे-धीरे फैला दिया । स्वतन्त्रता पा कर कौन अपना प्रताप संसार में नहीं फैलाता ? उस पर सूर्य तो प्रताप के निधि ठहरे । धीरे-धीरे तीक्ष्णांशु हो कर वह अपना प्रताप क्यों नहीं दिखलावें ? ॥२८॥

आरक्तपाटलकपोलमुखीह कान्तं सत्पाटलाग्रसमरम्यकुचप्रदेशा ।
सद्यः सरोवरजलाप्लवनातिशीतदेहाभिषज्य विजहौ तनुतापमुग्रम् ॥२९॥

गुलाब के समान लाल कपोल वाली नायिका, जिसका कुचप्रदेश गुलाब की कली के अग्रभाग के समान सुन्दर है, ने अपने प्रिय के उग्र कामज्वर को ऐसा दूर किया कि जान पड़ता था कि उसने तत्काल किसी सरोवर के जल में डुबकी लगा कर अपने शरीर को शीतल किया है।।२९।।

पूर्वं जना दनुजवंशकृतोग्रतापसन्तापिता नु रवितापमजीगणन्न ।
यद्वा निकामवरकामजतापतप्ताः कान्ताङ्गसङ्गसुखनिर्वृतिमागता वा ॥३०॥

लोग पहले दानवों के उपद्रव से इतने सन्तप्त थे कि जान पड़ता था कि वे कामज्वर से अत्यन्त सन्तप्त थे। प्रेयसियों के अंग संस्पर्श से अब वे इतने शीतल हो गये कि सूर्य के ताप को उन्होंने कुछ भी नहीं समझा।।३०।।

उग्रं महः किमपि यद्धृतवान् दिनेश-
स्तत्साधु कुञ्जभवने सुविलासनार्थम् ।
नो चेत्कथन्नु शयितेष्वपि तेषु काचित्
स्वेच्छा विहारकृतधीर्गृहतो निरीयात् ॥३१॥

अब सूर्य ने कुछ उग्र ताप लाया। यह भी अच्छा ही रहा; यदि ऐसा समय नहीं आता तो विलास करने वाली दिवाभिसारिका अपने पति को घर में सोये हुए छोड़ कर घर से बाहर निकल कर कुञ्ज में विहार कैसे करती ?।।३१।।

यावन्निकुञ्जविपिनोपवने विहाराद् यावज्जलाशयजलाप्लवनान्न तृप्ता ।
तावद्दधार गगनं घनकज्जलाभं सेन्द्रायुधं सचपलं मुदिरं समन्तात् ॥३२॥

स्वैरिणी जब तक सघन कुञ्ज और जलाशय में विहार से तृप्त भी नहीं होने पायी थी तब तक समस्त आकाश में गाढ़े काजल के समान काले मेघ छा गये जो इन्द्रधनुष से सुन्दर तथा बिजली से चमत्कृत दीख रहे थे।।३२।।

छायाविधायिनमुपेन्द्रतनुप्रकाशं सन्तर्पणं क्षितितलस्य रसाभिषेकैः ।
संवीक्ष्य तं कृषकमुग्धतमाङ्गनास्तत्कीर्तिं निजोदयकरीं जगुरुच्चकैस्तत् ।३३।

किसानों की अत्यन्त भोली-भाली स्त्रियाँ छाया करने वाले भगवान् विष्णु के शरीर के समान रस-वर्षण से भूतल को तृप्त करने वाले बादल को देख कर किसानों को लाभ पहुँचाने वाली मेघ की कीर्ति का गान जोरों से करने लगीं।।३३।।

मेघं निरीक्ष्य मुदिता निजवर्हभारं
विस्तार्य केकिनिवहाः सह कामिनीभिः ।
षड्जस्वरेण सुहृदं नु समाह्वयन्तस्तत्प्रीतये
प्रतिदिशं नटितुं प्रवृत्ताः ॥३४॥

मेघ को देख कर प्रसन्न मोरों ने अपनी स्त्रियों के साथ पंख को फैला कर षड्ज (संगीत शास्त्र के प्रथम स्वर) से अर्थात् जोरों से अपने मित्र मेघ को पुकारते हुए नाचना आरम्भ कर दिया।।३४।।

ग्रीष्मोद्गतामितरजोमलिना घनेन प्रक्षालिता विमलवार्भिरलं व्रतत्यः।
धृत्या हरिद्दलमयं वसनं ससञ्जुर्वृक्षान् लसत्कुसुमभूषणभूषिताङ्ग्यः ॥३५॥

ग्रीष्म ऋतु में उड़ी हुई धूलियों से मलिन किन्तु बादल के द्वारा निर्मल जल से धो दी गई लताएँ हरे दलरूपी वस्त्र धारण कर एवं खिले हुए भूषणों से भूषित हो वृक्षों से लिपट गई ॥३५॥

सायं हसत्कुसुममुग्धमुखी द्विरेफ-
मञ्जीरनिस्वनवती वरगन्धधर्त्री।
सन्मालती प्रियतमाभिसरं नु
काचित्प्रेम्णाभ्यशिक्षयदलं प्रमदाः प्रमोदात् ॥३६॥

सायं काल में हँसते हुए फूलरूपी मुख वाली और भौंरों के शब्दरूपी घुंघरू वाली अच्छी सुगन्धि को धारण करने वाली कोई सुन्दर मालती (मालती सामान्या समझी जाती है) स्त्रियों को प्रेम से आनन्दपूर्वक प्रियतम के पास अभिसार की मानो शिक्षा दे रही हो ॥३६॥

काश्चिच्च कापि लतिका धृतनीलवर्ण-
वस्त्राभ्यशिक्षयदति प्रणयेन कान्ताः।
मूकीभवद्भ्रमरनिस्वनवाङ्निशीथे
साहाय्यवान् भवति सर्वजनस्य कश्चित् ॥३७॥

कोई लतिका नीले पत्तेरूपी नीला वस्त्र धारण कर आधी रात के समय, जब भौंरों का गुञ्जार बन्द हो जाता है तब वह भी अपनी बोली को बन्द करके, कुछ स्त्रियों को कृष्णाभिसार की शिक्षा देती हुई मालूम पड़ती थी। समय पर सबका कोई-न-कोई सहायक हो ही जाता है ॥३७॥

वामास्यवाससमुपागतवासमद्यमाप्तुं सदैव वकुलः समपेक्षते यः।
तद्गन्धमात्रमधुनाप्य स सम्प्रमोदात्सज्जो बभूव कुसुमप्रकरैर्मनोज्ञैः ॥३८॥

जो मौलसिरी-वृक्ष सुन्दरियों के मुख की सुगन्धि से और भी सुगन्धित मद्य की सदा अपेक्षा रखता था, वही मौलसिरी इस समय उसके गन्ध को पा कर अत्यन्त हर्ष के कारण सुन्दर फूलों से सज गया ॥३८॥

यूथीप्रसूननिचिते तरुगुल्मपुञ्जे सत्कुञ्जरम्यवसतौ विततावश्मशय्ये।
कुध्रे क्षरन्सुखदनिर्झरशीकराढ्ये वाराङ्गनासहचरा रसिका रमन्ते ॥३९॥

जूही के फूल से लदे हुए वृक्षों और लताओं से घिरे हुए, सुन्दर कुञ्जों से परिपूर्ण, चौड़ा चट्टानरूपी शय्या से सुसज्जित तथा झरते हुए झरनों के कणों से शीतल एवं सुखदायक पहाड़ पर वेश्याओं के साथ रसिक लोग विहार करते थे ॥३९॥

कामस्ततान परितो निजकन्दुकानि नीपोद्भवानि कुसुमानि मनोरमाणि ।
यावद्वियोगिहृदयस्थललक्ष्यभाजस्तप्ता यथा सुगुलिकाः सरदग्निचूर्णाः ॥४०॥

कामदेव ने कदम्ब के सुन्दर फूलरूपी गेंदों को चारों ओर फैला दिया। जब तक झरते हुए कदम्ब के पुष्प के किसलय और परागरूपी सुन्दर रूप से भरे हुए अत्यन्त तप्त वियोगिनी और वियोगियों को लक्ष्य बना कर कदम्ब के फलरूपी एक गोली चल गई ॥४०॥

चन्द्रानना विशदकाशविकाशहासा ज्योत्स्नासिताम्बरधरा कलहंसभूषा ।
सत्खञ्जनेक्षणवती भ्रमरालिकेशा कान्तेव काप्युपगता शरदब्जशोभा ॥४१॥

इसके बाद किसी कामिनी के समान शरद् ऋतु का आगमन हुआ जिसका मुख था निर्मल चन्द्रमा, जिसका हास था विकसित काश का फूल, जिसका पहनावा था चाँदनीरूपी स्वच्छ वस्त्र, जिसका भूषण था कलहंस, जिसके चञ्चल नेत्र थे सुन्दर खञ्जन पक्षी, जिसके केश थे उड़ते हुए भौंरों की पंक्तियाँ और जिसके सर्वांग के भूषण थे कम खिले हुए फूल ॥४१॥

आपः समीक्ष्य वदनानि समागतानां स्नानार्थमात्मनिकरे वरकामिनीनाम् ।
आत्मोद्भवैः सुकमलैर्दिवसे रजन्यां शोभां च कैरवकुलेनितरां वितेनुः ॥४२॥

जल ने दिन में और रात में स्नान के लिए आई हुई कामिनियों के मुख का प्रतिबिम्ब देख कर अपने में खिले हुए कमल और कुइं के फूल जान कर उन्हीं से अपनी शोभा का विस्तार किया ॥४२॥

आकाश इन्दुप्रभया च जलानि पद्मैस्तेजोनिधिः खरकरैः पवनंप्रचारैः ।
भूमिश्च काशकुसुमैर्जहसुः प्रमोदात्सर्वः प्रसादमुपयाति विकंटकः सन् ॥४३॥

आकाश चन्द्रमा की प्रभा से, जल विकसित कमल से, सूर्य तीखे किरणों से, वायु स्वच्छन्द प्रसार से, पृथ्वी काश के फूलों से हँसने लगी। आपन्मुक्त हो जाने पर तो आनन्द से सब हँसते ही हैं ॥४३॥

शेफालिकाकुसुमसौरभमुग्धचेता
ज्योत्स्नासुचारुवसनं परिधाय काचित् ।
मन्दस्मितेन शशिनं परिलज्जयन्ती
त्रस्यत्कुरङ्गनयनाभिससार कान्तम् ॥४४॥

(सायंकालीन विकासोन्मुख) हरसिंगार के पुष्पगन्धरूपी प्रमोदित चित्तवाली एवं डरे हुए हरिण के अत्यन्त चञ्चल नेत्र वाली (शुक्लाभिसारिका) नायिका-रूप शरद् चमकीली चाँदनीरूपी स्वच्छ वस्त्र धारण करके अपने मन्द मुस्कान से चन्द्रमा को लज्जित करती हुई मानो अपने कान्त के पास अभिसार के लिए आ गई हो ॥४४॥

वासो हरित्सुनवशस्यमयं वसाना
पृथ्वी हरिच्च कृषिकर्मरताङ्गनानाम् ।
शस्योद्भवाश्च परितः फलमञ्जरीका
आनन्दयन्नतिशयं सुविलोचनानि ॥४५॥

पृथ्वी ने मानो नये धान के पौधेरूपी हरे वस्त्र को धारण कर तथा सर्वत्र धान की बालीरूपी मञ्जरी से सुसज्जित हो कर कृषिकार्य में लीन किसानों की सुन्दर नेत्रवाली स्त्रियों को अत्यन्त आनन्दित करने लगी ॥४५॥

चन्द्रप्रभां मलिनयँस्तुहिनैः समन्तादुज्जासयँश्च कमलानि सरोवरेषु ।
वह्निं प्रियं शिशुमिवोष्णकरञ्च कुर्वन् हेमन्त आगमदथो कृतशीतभीति ।४६।

इसके बाद चन्द्रप्रभा को तुषार-पात से मलिन बनाती हुई, तमाम जलाशयों में कमलों को मुर्झाती हुई, अग्नि को प्रिय तथा सूर्य को बालक के ऐसा बनाती हुई तथा ठंडी चीज को भयावनी बनाती हुई हेमन्त ऋतु आ गई ॥४६॥

पीतानि कन्दुकसमानि तथारुणानि
पुष्पाण्यथापि विविधानि मनोहराणि ।
मत्वायुधानि मदनस्य तु शीतभीत्या
निर्माय माल्यविदधान्नहि कापि कान्ता ॥४७॥

(इस ऋतु में) किसी भी स्त्री ने पीले-लाल गेंदों तथा अन्य सुन्दर पुष्पों को कामदेव का शस्त्र मान कर ठंडक के भय से उनकी माला बना कर नहीं पहना ॥४७॥

केचिद्वियोगदहनेन नितान्ततप्ताः केचिच्च तूलवसनेन समावृताङ्गाः ।
आदाय केचिदिह शीतहरीं हसन्तीं रात्रिं कथं कथमपि व्यतिजग्मुरुग्राम् ॥४८॥

कुछ लोग वियोगाग्नि से अत्यन्त तप्त हो रहे थे, तथा कुछ लोगों ने कपड़ों (रजाई वगैरह) से अपने समस्त अङ्गों को ढक कर, कुछ लोगों ने ठंडक हरण करने वाली कामिनी तथा कुछ लोगों ने बोरसी या अँगीठी ले कर भयंकर जाड़े की रात को किसी-किसी प्रकार बिताया ॥४८॥

अन्यार्थमद्य रजनी भवतु प्रतान्ता किन्तु प्रियोन्नतकुचाननपीडितानाम् ।
सायं समागमवतामपि नैव यूनां दीर्घा बभूव तु, जगाम पलोपमैव ॥४९॥

आज (हेमन्त की) रात भले ही कुछ लोगों के लिए लम्बी हो, परन्तु उन पुरुषों के लिए जो शाम से ही मिल कर अपनी प्रियतमाओं के उन्नत उरोज से दबे हुए थे, वह लम्बी रात जैसे पल भर में ही बीत गई ॥४९॥

रात्रौ क्षरन् हिमकणान् परितो नभस्वान्
मुक्तास्ततान सकलान् परिकम्पयँश्च ।
व्युष्टं रविश्च विदधद्वरपद्मरागा-
ञ्जाड्यं हरँश्च शनकैस्तुहिनं लुलोप ॥५०॥

पवन देव ने सभी को कँपाते हुए रात में ओस की बूँदे छिड़कते हुए चारों ओर मोती फैला दिया और प्रातःकालीन सूर्य ने उन मोतियों को मानिक बनाते हुए तथा ठंडक (जड़ता) का धीरे-धीरे दूर करते हुए ओस की बूँदों को लुप्त कर दिया। (सूर्य की कष्टकारक दशा में माणिक्य धारण करने से कष्ट का निवारण हो ही जाता है) ॥५०॥

अभ्यागतोऽथ समयो मधुपूर्ववर्ती शैत्यं क्रमादथ गतं खलु मान्द्यमत्र ।
पीतश्च पत्रनिवहस्तरुवल्लरीणां दृष्ट्वा पुरो नु मदनं पटवत्पपात ॥५१॥

इसके बाद वसन्त के पूर्ववर्ती (अर्थात् शिशिर) ऋतु का आगमन हुआ। धीरे-धीरे ठंडक कमने लगा। वृक्ष और लताओं के पीले पत्ते आगे आने वाले वसन्त के मित्र मदन को सामने देख कर ही कपड़े के समान स्वयं खिसक कर गिर गये ॥५१॥

वीक्ष्य प्रभाकरमरं मलयानिलस्य त्रासान्नु मन्मथबलाधिपतेः पुरस्तात् ।
तन्मार्गतः प्रतिनिर्वर्तितवाजिमत्र यातो महर्षिनिवहोपि भिया प्रयागम् ॥५२॥

कामदेव के प्रधान सेनानायक मलयवायु (दक्षिणवायु) को अपनी सेना ले कर सामने से रास्ता रोकने के भय से सूर्य को उसके मार्ग से हटता देख कर बड़े-बड़े महात्मा भी डर कर प्रयाग चले गये ॥५२॥

यत्सैन्यनायकभिया परिवर्तिताश्वस्तत्केतुमेव गतवान् मकरं विवस्वान् ।
कामध्वजेन चरमाप्तसमागमोपि कुम्भग्रहं स विदधातु कथं न तूर्णम् ॥५३॥

जिस सेनानायक के डर से सूर्य ने अपने घोड़ों को उसकी विपरीत दिशा में मोड़ लिया था उसके झण्डा में मकर देख कर और बहुत दिनों तक उसी के साथ लक्ष्य बना रह कर उतने उन्मत्त हो गये कि वह कुम्भस्तनी का कुम्भ कैसे नहीं ग्रहण करते ? ॥५३॥

कुम्भग्रहोद्यतमवेक्ष्य दिनेशमेष लोकोप्यभून्मदनपूजनदत्तचेताः ।
वल्ल्योपि निःसरदरुप्रचुराङ्कुराढ्या रोमाञ्चिता इव बभूवुरिहार्चनाय ॥५४॥

सूर्य को कुम्भ ग्रहण करते देख कर इस संसार के लोग भी काम की पूजा में लग गये। सबके सब मतवाले होने लगे। लताएँ भी निकलते हुए प्रचुर अंकुर से युक्त हो कर काम-पूजा का साधन बन गईं। (रोमाञ्चित की तरह हो कर कामदेव की पूजा करने लगीं) ॥५४॥

कुञ्जं निरीक्ष्य परितो दलहीनमत्र क्षेत्रं तथेक्षुसरकादि सुयष्टिरिक्तम्।
काश्चित्प्रकाममगमन्निह तापमुग्रं धैर्यं दधुश्च पुरतो मधुमीक्षमाणाः ॥५५॥

कोई-कोई अभिसारिका स्त्रियाँ तमाम कुञ्ज को पत्रहीन तथा और भी छिपने लायक संकेत स्थानों से गन्ना, सरकी का झलास आदि को कटा हुआ देख कर भी अत्यन्त तप्त नहीं हुईं, चूँकि उन लोगों ने देखा कि अब चारों ओर वसन्त आने ही वाला है। (वसन्तोत्सव में तो सभी परदेशी अपने-अपने घर जाते ही हैं।) ॥५५॥

याश्चापि दत्तसमया मधुसंगमाय तापं वियोगजमपास्य शनैः शनैस्ताः।
वल्ल्यो यथाङ्कुरितपल्लवपुष्पशोभाः क्षीणा अपीह रमणीयतरा बभूवुः ॥५६॥

कुछ वियोगिनी नायिकाएँ भी, जिनको वसन्त में मिलने का समय निर्धारित किया गया था, धीरे-धीरे वियोग के ताप को दूर करके लताओं के समान रोमाञ्च—नव पल्लव, फूल की शोभा धारण कर क्षीणकाय रहने पर भी अत्यन्त सुन्दर हो गईं ॥५६॥

इति जगज्जननी कृपया जना भुवि परं सकलाः सुखमाप्नुवन्।
समभवन्निजकार्यपरायणा कुहचनापि न दुःखलवोधुना ॥५७॥

इस प्रकार जगज्जननी की कृपा से संसार में सब ने केवल अत्यन्त सुख ही नहीं पाया, अपितु वे लोग अपने-अपने कार्य में भी लग गये। इस समय कहीं पर दुःख का लेश भी नहीं रह गया ॥५७॥

भुवि जना अधुना अमरोपमा अपि धरा च सुरेशपुरोपमा।
वनमपीह च नन्दनकाननं सकलसौख्यमयः समयोऽभवत् ॥५८॥

इस समय पृथ्वी के लोग देव-तुल्य हो रहे थे, पृथ्वी अमरावती सी हो रही थी और जंगल नन्दन वन-सा हो रहा था। समय सभी प्राणियों के लिए सुखमय हो गया ॥५८॥

सुरगणो यदवाप सुनिर्वृतिं न खलु सा वचसामिह गोचरा।
अजनयन्सुचिराद्धतबन्ध्यताः शुभफलान्यधुना सुरशाखिनः ॥५९॥

इस समय देवता लोगों ने जैसी अच्छी शान्ति प्राप्त की, वह वर्णन से परे है। कल्पवृक्ष ने भी बहुत समय से धारण किये हुए बन्ध्यत्व को छोड़ कर इस समय अच्छे-अच्छे फल पैदा किए ॥५९॥

इत्थं कोपि न कुत्रचित् क्षितितले सौख्यं विनासीत्तदा
पातालेऽपि च सर्व एव सुखिनो भूत्वाऽवसन् स्वालये।
किं वाच्यं खलु नाकिनां सुखमसौ लोकोस्ति सौख्यात्मकः
कष्टं क्वापि च जायते विधिवशात्तन्नाशयत्यम्बिका ॥६०॥

इस प्रकार भूमण्डल में कोई भी कहीं पर सुख से रहित नहीं रहा। पाताल में भी सब लोग सुखी ही हो कर अपने घर पर निवास करने लगे। स्वर्गवासियों के सुख के विषय में क्या कहना ? उनका वह लोक (स्वर्ग) तो सुखमय है ही। यदि भाग्यवश कहीं कष्ट हुआ भी तो जगन्माता उस कष्ट को नष्ट कर देती हैं ॥६०॥

सकलजगति सर्वैर्गीयतामम्बिकायाः
गुणगणमहिमाऽसौ सर्वसौभाग्यदायी।
सततमवनदक्षा यत् त्रिलोकीं त्रिकाल-
मवति तमपहाय क्वान्यगानप्रयासः ? ॥६१॥

समस्त संसार में सब लोग सभी सौभाग्य देने वाली उस गुण-गण-महिमा जगदम्बा का गान करें, जो सदा तीनों लोकों में तीनों काल सब की रक्षा करती हैं, उन्हें छोड़ कर दूसरे के गान का प्रयास क्या ? ॥६१॥

इति श्रीदेवीचरिते महाकाव्ये ऋतुवर्णनं नामैकोनविंशतिः सर्गः।
'श्रीदेवीचरित महाकाव्य' में ऋतुवर्णन नामक उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त।

समाप्तमेतन्महाकाव्यम्

महाकवि मिश्रजी के अन्य अप्रकाशित सुरभारती ग्रन्थ

१. रुक्मिणी-मङ्गलम् (महाकाव्यम्)
२. भारतवर्षेतिहास: (श्लोकबद्ध:)

खण्ड-काव्य

३. रुक्मिणी-परिणय: ४. गणेश-जन्म
५. शिव-विवाह: ६. अशोकवर्तिनी सीता
७. दक्षयज्ञविध्वंस: ८. कीचकवध:
९. मानिनी राधिका १०. कृष्णाभिसारिका
११. श्मशानवासी हरिश्चन्द्र:
१२. श्रीसीताचरितम् १३. श्रीराधाचरितम्

लक्षण-ग्रन्थ

१४. व्यञ्जनोद्धार: १५. रसचन्द्रिका

अन्य कृतियाँ

१६. सुरभारती १७. श्री गुरुवंश-वर्णनम्
१८. बन्धकाव्यम् १९. स्फुटश्लोका:

महाकविश्रीमत्पण्डित
रामावतार मिश्र
(जन्म विक्रम संवत १९५५)
ग्राम—बेनीपुर, पो० टेकारी,
जिला—गया (बिहार)
शिक्षा—संस्कृत-साहित्योपाध्याय
संप्रति—अवैतनिक प्राचार्य,
गुरुकुल महाविद्यालय, गया।

सम्पादक एवं टीकाकार
डॉ० शिवशङ्कर पण्डित
(जन्म विक्रम संवत् १९९०)
ग्राम—सेनारी, पो० खटांगी,
जिला—गया (बिहार)
संप्रति—प्राध्यापक,
अंग्रेजी विभाग, सेण्टजेवियर्स कॉलेज,
रांची (बिहार)